श्री सयाजी साहित्यमाला-पुष्प ७६ वां

(नीतिगुच्छ)

नीतिविवेचन

अनुवादक

कांतिलाल केशवराय नानावटी, एम. ए.

अलवर

रचयिता

" नैतिक जीवन और नैतिक उत्कर्ष."

प्रकाशक

जयदेव ब्रदर्स बड़ोदा

स. १९२३ | मूल्य | सजिल्द १।≡)
सं. १९७९ | | विनाजिल्द १।)

श्री प्रभुलाल शिवलाल ठक्कर द्वारा ' भारत विजय प्रेस ' मोदीखाना बड़ोदा में मुद्रित तथा श्री. ए. ए. दुदानी बी. ए एलएलबी. व्यवस्थापक जयदेव ब्रदर्स बड़ोदा द्वारा प्रकाशित ता. ३०-७-२३.

ओम्

प्रकाशकीय वक्तव्य

भारतवर्ष में नीति और धर्म शब्द यदि हम अनुसन्धानकी दृष्टि से देखें तो अति प्राचीन कालमें एकार्थही व्यवहृत हुए हैं। मानव धर्म्मशास्त्रमें जहां सड़कपर चलने के लिये नियम निर्धारित किया है कि अपने वांए हाथको चलो तो उसको कई लोग साधारण नीतिकी बात कहेंगे और कोई इसको किसी म्युनि- सिपैलिटी की एक उपयोगी आज्ञा वा नियम मानेगा। पर पुराने समयमें राजाज्ञा ग्रामाज्ञा, पंचआज्ञा अथवा राजनियम, ग्रामनियम वा पंचनियम तथा व्यावहारिक नियम जिनको आजकल नीति शब्दसे पुकारा जाता है धर्म शब्दके अन्दरहा आजातेथे। हमारे ऋषि धर्म नीतिके सर्व प्रकारका हितकारी नियमोंका समावेश धर्म्म शब्दके अन्दर करते थे उसके लिये यतो अभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धि स धर्मः यह दर्शन शास्त्रका सूत्र पर्याप्त है। उस सूत्रमें धर्मका निर्वाचन (Definition) इस उत्तमतासे किया गया है कि वर्णन नहीं हो सकता। उसका भाव यह है कि जिससे सांसारिक भोग और ऐश्वर्य तथा मुक्ति प्राप्तहो वही धर्म्म है। महर्षि मनुने धर्म अथवा नीतिके कारण चार प्रकार के दर्शाए हैं * श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि। प्रश्न हो सकता है कि श्रुति अर्थात वेदको सबसे महान् और आदि कारण धर्म वा नीतिका क्यों कहा गया इसका उत्तर यह है कि वेद एक आदर्श ज्ञान का नाम है और जिस प्रकार एक वृद्ध सर्व हितैषी पिता अपने परिवार के सब जनों के लिए नीतिका नियम पक्षपात से शून्य होकर बना सकता है उसी प्रकार वेदमें यह बात देखनेमें आती है। दृष्टांत की रीतिसे कह सकते हैं कि यदि कोई उत्तम पदार्थ पिता घरमें सब के खाने के लिए बाजार से लाता है तो वह सब बच्चोंके लिए उनकी योग्यता अनुसार उनका पूर्ण हित साधते हुए विभाग कर देगा और ऐसा करने

---

* वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मानः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ मनु० २-१२।

अर्थः—वेद-श्रुति, स्मृति (मानवआदि धर्म शास्त्र) सदाचार शीलादि और आत्म तुष्टि यह चार प्रकार का साक्षात धर्म का लक्षण कहते हैं।

धर्म्म शब्द के अर्थ कानून वा नियम वा कर्तव्य समझने चाहिएं।

में अपना स्वार्थ मुख्य नहीं रखेगा। यदि बाप के लिए कोई भी भाग उस पदार्थ का खाने को न रहे तो भी उसको अपनी चिन्ता न होगी इस लिए जिन देशों में ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध तथा पूर्ण त्यागी पुरुष नीति निर्माण करने वाले होंगे उन देशोंकी नीति बहुत उच्च कोटि.की होने से पूर्ण सुखकी दाता सिद्ध हो सकेगी।

श्रुतिसे पश्चात स्मृति वा कानून को नीति का कारण कहा गया है सब जानते हैं कि कानून वा धर्म वा नियम एक देश के अनेक योग्य विद्वानों के अनेक वर्षों के अनुभव का फल होता है इसलिए स्मृति का दर्जा धर्म वा नीतिशास्त्र में दूसरा कहा गया है।

सदाचार को तीसरे दर्जेपर नीति वा धर्म का कारण कहा गया है। आज कल हमें यह बतलाने की अधिक जरूरत नहीं कि सदाचार दो प्रकार का होता है एकतो अपने माता पिता बन्धु मित्र अध्यापक उपदेशक राजा प्रजा इत्यादि का और दूसरा ऐतिहासिक पुरुषोंका। महाभारत की कथा सुनने से वीर शिरोमणि छत्रपति शिवाजी महाराजके मनमें अर्जुन के वीर सदाचार का जो शुभ प्रभाव पडा वह दुनिया जानती है। इस के साथही आर्यनीति भूषण यतिवर श्री समर्थ रामदास जी के जीवन ने उनको किस प्रकार राजनीतिम कुशल कर दिया यह सब जानते हैं।

आत्मतुष्टि नीति अथवा धर्म का चौथा कारण वा अंग कहना चाहिए। जो बात एक व्यक्ति के लिए हानिकारक है वह बात अधर्म वा अनीति की मानी जाती है। आज युरुपादि देशोंमें आत्मतुष्टि पर बहुत जोर दिया जाता है और यही कारण है कि जो ग्रन्थ अंग्रेजी के इस विषयपर निकलते हैं वह **आत्म अनुभव** जिसको संस्कृत में **आत्म तुष्टि** कहा जाता है उसको ही एक मात्र नीतिका आधार दर्शा रहे हैं। कोई प्रश्नकर सकता है कि आत्म अनुभव अथवा आत्मतुष्टि को नीति का अंग मानना इस लिए ठीक नहीं कि एक चोर अपने विचार से नीतिका निर्माण कर्त्ता हो जाएगा। इस के उत्तर में हम कहेंगे कि चोर को यदि यहकहा जाए कि आज रातको तुम्हारे घरमें अमुक डाकु डाका डालेगा तो चोरभी उसका निवारण करनेके लिए पूर्ण यत्न करेगा। इस से यह सिद्ध हुआ कि चोर खरे मनसे मानगया कि चोरी बुरा कर्म है और इसी लिए उससे अपने आपको बचाने के लिए तयार होता है।

व्यभिचारी मनुष्य भी कभी मनसे नहीं चाहेगा कि उसकी स्त्री बहिन वा माता के संग कोईव्यभिचार करे। यह आत्मसाक्षी अथवा आत्मतुष्टि वा आत्म अनु-भव नीति का चतुर्थ अंग समझना चाहिए।

इस पुस्तक ने यह बात भली प्रकार दर्शा दी है कि प्राचीन (आदिम) आर्य्य धर्म के जो ५ यम, सामाजिक धर्म वा नीति–नियम के नामसे मानव धर्म शास्त्र तथा योग दर्शनमें वर्णन किये गये हैं वही ५ यम, जैन अथवा बौद्धधर्म नीतिकी आधार शिला हैं। प्रोफैसर मैक्समूलरका भी यही मत है कि बौद्धधर्म के ५ मूल नियम ही आर्य धर्म के ५ यम वा धर्म अङ्ग हैं कारण कि यह ५ धर्मतत्व मनुस्मृति (मानवधर्मशास्त्र) में बराबर मिलते हैं। अतः कहा जा सकता है कि आर्य धर्म वा बौद्ध धर्म एक ही मूल नीतिके बोधक हैं यथा—

आर्य्यधर्म	...	बौद्धधर्म	...	जैनधर्म
१. अहिंसा	...	अहिंसा	...	अहिंसा
२. सत्य	...	सत्य	...	सत्य
३. आस्तेय (चोरीत्याग)	...	आस्तेय	...	आस्तेय
४. ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह)	...	ब्रह्मचर्य	...	ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह (मानसिक शौच)		अपरिग्रह	...	अपरिग्रह

महर्षि मनुने इस को सामान्यमानव धर्म कहा है। इस के अतिरिक्त चार **आश्रमों** और चार **वर्णों** के धर्म (कर्तव्य) हैं। उनको समझने के लिये **मनुस्मृति** तथा **वेद** को पढने की जरुरतहै। इस लिये जो बात महर्षि मनुने कहीथी कि धर्म वा नीति के दर्शक वा बोधक ४ अंग हैं वह बात अब समझ में आगई। कारण यह कि केवल सामाजिक नीति (धर्म)के ५ नियम ही मानव प्रगति के लिये पर्याप्त नहीं कहेजासकते किन्तु **वर्णाश्रमों** के समग्र उत्तम नियम कोईभी एक स्वयंपूर्णरूपसे रच नहीं सकता। इसलिये आत्मतुष्टि वा सदाचार से बढकर धर्मशास्त्र (स्मृति) और उससे भी बढकर श्रुतिको जानने की जरुरत है। आजकल आर्य जनता में विधवाओं के पुनर्विवाह वा नियोग का प्रचार नहीं। प्रत्येक आर्यविधवा आत्मतुष्टि के आधारपर कह सकती है कि पुनर्विवाह वा नियोग उसके लिये धर्म है। वह इतिहास में सेभी **कुन्ती** आदि के दृष्टान्त आर्य्य सदाचार के पोषक देनेको प्रस्तुत है। स्मृतिग्रन्थ तथा

वेदभी इसकी पुष्टि कर रहे हैं—पर इतने परभी यदि हिन्दु बिरादरियां न मानें तो कहा जावेगा कि जो ज्ञानके अनुकूल कर्म नहीं करते वह वेद और श्रीमंत बडोदा नरेश के वचनों में ज्ञानशूर मात्रही रहनेसे कार्य्य नहीं कर सकते।

इस लिए **नीतिविवेचन** नामी इस ग्रन्थ के पढ़ने से भारतीय आर्य प्रजा को बडा भारी लाभ यह होगा कि अपने शास्त्रोंके बताए हुए कर्म्म वा नीतिके नियमों के साथ युरोपादि देशों के विचारकों के उत्तम विचारों को तुलना करने का सुअवसर प्राप्त होकर नीति संबंधी विशेष ज्ञान प्राप्त हो सकेगा। वेद वा वेदांत वा उपनिषद का वचन है कि "विद्यां च विद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृत मश्नुते ॥ यजु० अ० ४० म० १४"

इसमें बतलाया गया है कि यथार्थ ज्ञान और यथार्थ कर्म दोनोंको जो मनुष्य साथ साथ आचरण में लाता है वह शुभकर्मसे दुःखोंको दूर कर यथार्थ ज्ञानसे आनन्द अमृत को प्राप्त करता है। इस मंत्र ने कितना जोर इस बात पर दिया है कि जब तक मनुष्य का ज्ञान उस के नीति युक्त कर्म्मों में परिणत नहीं होता तबतक वह सच्ची उन्नति नहीं कर सकता और यही उत्तम भाव तथा सारगर्भित उपदेश हैं जो आर्य नरेन्द्र विद्या मूर्ति **श्रीमन्त सयाजीराव महाराज** बडोदा नरेश के अंग्रेजी वचनों द्वारा मिल रहा है जो इस पुस्तक के प्रथम पृष्ट का मानो मुख्य लेख के रूप में उद्धृत किया गया है।

हमें इस मालामें हिन्दीको यह **छठी** पुस्तक प्रकाशित करते हुए हर्ष होता है। यह पुस्तक श्रीमंत महाराजा साहेब गायकवाड की आज्ञानुसार प्रथम गुजराती में श्रीयुत आलवन. जी. विजरी एम. ए, श्रीयुत अतिसुखशंकर कमलाशंकर त्रिवेदी एम. ए. एलएल. बी. श्रीयुत मणिलाल मोहनलाल झाला एम. ए. एलएलबी. द्वारा लिखवाई गई थी उसीका हिन्दी अनुवाद श्रीयुत कान्तिलाल केशवराय नाणावटी एम. ए. द्वारा करवाकर प्रस्तुत किया जाता है। हिन्दी प्रेमियोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वह इस ग्रन्थमाला के अधिकाधिक संख्या में ग्राहकबन इस पुनीत कार्य में योगदें। **विनीत**

ए. ए. दुदानी बी. ए. एल एल बी.

नीतिविवेचन

" **Always appraise action more than talk and ever be ready to translate your word into deed.** "

His Highness Maharaja Gaekwar
(2nd Industrial Conference, 1906).

" सदैव बातोंकी अपेक्षा वर्तनकी अधिक बडाई करो, और तुम्हारे शब्दोंका क्रियामें परिवर्तन करनेके लिए हमेशा तत्पर रहो "

श्रीमान् महाराजा सयाजीराव गायकवाड.

प्रथम भाग

उपाद्घातरूप
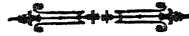
"The wealth of a nation is the quality of its manhood."

His Highness Maharaja Sayajirao Gaekwar,
(2nd Industrial Conference, 1906).

"किसी भी समाज की संपत्ति उस समाज के लोगोंके चारित्र्य की उत्तमता पर निर्भर है।"

श्रीमान् सरकार महाराजा गायकवाड़.

नीतिविवेचन

उपोद्घातरूप–नीतिशास्त्रकासामान्यस्वरूप

प्रत्येक देशमें मनुष्य मात्र अपना अधिकसे अधिक हित और कमसेकम अहित सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हैं। संसार का यह एक निरपवाद अनुभव है। इसी प्रकार प्रत्येक देशके लोगोंमें साधु जीवन क्या और असाधु जीवन क्या इस बातका भी ज्ञान होता है। इस छोटी पुस्तकमें साधु जीवनके उपयोगी और नीति संबन्धी कुल अंशोंके विषयमें विवेचन किया जायगा। बहुतसे मनुष्योंके मनमें साधु जीवन क्या और उसका किन किन बातोंमें समावेश होता है इस विषयमें स्वल्प और अपूर्ण विचार हैं; परन्तु इस विवेचनमें उस संबंधमें गहरा और संपूर्ण विचार किया जायगा, और इस विषयमें दुनियाके जुदे जुदे विचारकों और धर्मनिष्ट पुरुषोंने जो जो इससे मिलते हुये विचार प्रकट किये हैं उनका पृथक्करण होगा।

वर्त्तमान समयमें ज्ञानका विकास इतना बढ गया है कि ज्ञानका अलग अलग शाखाओं में विभाग करके अलग अलग शास्त्रोंका अलग अलग विवेचन करना जरूरी मालूम हुआ है। इन अलग अलग शास्त्रोंको अलग अलग व्यक्तियोंने विकसित किया है। प्रत्येक शास्त्रका अभ्यासी समग्र ज्ञानके हितके लिये

अपनेही शास्त्रमें दत्तचित्त होकर रहता है, और अन्यलोग उसके परिश्रम और चिन्तनका लाभ उठा सकते हैं। ज्ञानके संशोधन का यह बटवारा जीवनके अन्य प्रकारोंके बटवारों की भांतिही लाभ करहै। जिसतरह कुछ लोग कपड़े के उद्योगमें लगे रहतेहैं, और अन्यलोग घर बांधनेकाही काम करतेहैं, और वैसेही जीवनके और दैनिक विषयोंमें कामका बटवारा पाया जाताहै उसी तरह ज्ञानके संबंधमें भी है। ज्ञानकी अलग अलग शाखाओंको विज्ञान वा शास्त्र नाम दिया जाताहै, जैसेकि उद्भिज्ज विज्ञान, रसायन विज्ञान, पदार्थविज्ञान, तर्कशास्त्र इत्यादि। नैतिक श्रेयका शिक्षण देनेवाली ज्ञानकी शाखाको नीतिशास्त्र अथवा नीति विज्ञान नाम दियाहै। नीतिशास्त्रका शास्त्रकी रीतिसे किस प्रकार विवेचन कियाजाताहै इस बातके जाननेके लिये कुछ भौतिक शास्त्रोंका शास्त्रीय विवेचनकी परीपाटी देखनेसे वह ज्ञान हमें सुगमतासे प्राप्तहोगा। मनुष्य छोटीसे-छोटी अवस्थासे बाह्यसृष्टिके सहवासमें आताहै। वृक्ष, फल, फूल, जीवजन्तु, पक्षी आदि विविध प्रकारकी वस्तुओंके ज्ञानका संबंध उसको प्राप्त होताहै। सूर्य, चन्द्र, तारागण, बादल, बरसात आदि अनेकानेक वस्तुओंको वह देखताहै। पवनका सनसनाहट और बादलोंकी गर्जना, पक्षियोंका कूजन और मनुष्योंका संभाषण आदि अनेक प्रकारके शब्द वह सुनताहै। ये और ऐसेही और अनुभव जीवनके प्रारम्भहीमें उसे मिलतेहैं, और फिरउनका पुनरावर्तन होता रहताहै। आगे जाकर वह प्रकृति विषयके एकाध शास्त्रका अभ्यास

आरम्भ करताहै । उस समय वह उन्हीं वस्तुओंका स्वल्परीतिसे नहीं परन्तु ध्यानपूर्वक अनुभव करने लगताहै ।

पहले नहीं देखी हुई ऐसी कई विशेष बातें अब उसके देखनेमें आती हैं । शास्त्रीय अभ्यासका सबसे प्रथम कुछ ऐसा ही परिणाम होता है । विशेषताओंके संबंधमें हमें उससे अधिक सूक्ष्म ज्ञान उपलब्ध होता है और वस्तुओं के संबंधमें हमें जो कुछ अनुभव हुआ हो उसके लिये हमें सावधान वृत्ति प्राप्त होती है । परन्तु इस निरीक्षणसे जो ज्ञानकालाभ हमें होता है उससे भी अधिक एक और लाभ होता है । इस शास्त्रीय अभ्यास से हम वस्तुओंका वर्गीकरण और उनके परस्पर संबंध जान सकते हैं । जैसे उद्भिज्जविद्या के हमारे अभ्यास के समय वनस्पतियों के हमारे ज्ञानको हम व्यवस्थित करते हैं, समान वनस्पतियों के हमारे ज्ञानको हम एक वर्ग में रखते हैं, और एक वर्गसे दूसरे वर्ग को अलग करते हैं । इस शास्त्रमें पौधे किन संयोगों में भली प्रकार उगते हैं इस बातका ज्ञान दिया जाता है । कई पौधों को अधिक पानी की आवश्यकता होती है, और कइयों को कम की कइयों को अधिक ताप चाहिये, कइयों को कम, कई ऐसे होते हैं कि उनकी डाली काटी जाय तो उत्तम फल देते हैं, और कइयों को यों करनेसे उनका नाश होता है । कई पौधे फल देते ही नहीं और कइयों में ऐसे फल होते हैं कि उनके खानेसे विष चढकर मृत्यु होता है । इस प्रकार पौधों के संबंधमें जितनी बातें मिल सकें उन सभी को

इस शास्त्रमें एकत्रित किया जाता है और फिर उनका व्यवस्थित रूपसे क्रम निश्चित किया जाता है। प्रकृति संबंधी अन्य सब शास्त्रोंमें भी यही बात होती है। उनमें भी वैसे ही अनुभवकी वस्तुओं को एकत्रित करके उनका वर्गीकरण होता है और फिर वस्तुओं के परस्पर संबंधोंका निरीक्षण होता है।

अब प्रकृतिके ऐसे तत्व और उनके परस्पर संबंधों के विषयमें दो आवश्यक बातें देखें। प्रथम यह स्पष्टहै कि यदि हमारे पास देखने, सुनने, सूंघने, छूने और चखनेको इन्द्रियां नहीं होती तो हम प्रकृतिके इनतत्त्वोंको नहीं जानसकते। किसीमनुष्यको इनवस्तुओंका पूर्ण ज्ञान होनेपरही शास्त्रकी नीवडाली जासकतीहै। समझलो कि अमुक जातिका वृक्ष मैंने देखा नहींहै। ऐसी दशामें जिस मनुष्यने उसको देखाहो वह मैंने जो और वृक्ष देखेहों उनसे तुलनाकरके उस वृक्षका वर्णन करेगा और उसका ज्ञान मुझे देगा, परन्तु यदिमैं बिलकुल अंधाहोऊं मैंनेकोईभी वृक्ष न देखाहो तो वृक्ष किस प्रकारका होताहै, यह ज्ञान मुझेहोना सर्वथा असंभवहै। इसी तरह प्रकृतिके अन्य सर्व शास्त्रोंका प्रारम्भ अनुभव के आधार परही होसकताहै। ज्यूं ज्यूं मनुष्योंको अधिकाधिक वस्तुओंका अनुभव होताहै त्यूं त्यूं शास्त्रोंका विकास होताहै। एक अन्य आवश्यक बात प्रकृतिमें रहतीहुई समता संबंधीहै। अमुक कार्य अमुक कारणके आश्रित होताहै; यदि वह कार्य करना होतो उस कारण पर अधिकार करना होगा। वह कारण उसके कार्य को

समानरीतिसे उत्पन्न करता ही रहेगा; यह प्रकृतिके नियमों की समताका परिणाम है। विष समान रीतिसे जीवनकी हानि करता है; अमृत समान रीतिसे उसकी वृद्धिका कारण होता हैं। समान कारण समान कार्य सर्वदा उत्पन्न करता है यह नियम प्रकृतिकी समताओंका नियम कहलाता है। प्रत्येकशास्त्रके अभ्याससे विदित होता है कि प्रकृति के तत्व अमुकामुक रीतिसे कार्य कारण-संबंधमें संकलित हैं। इन संबंधों को बहुधा "प्रकृति के नियम" कहते हैं। इस सत्यका स्वीकार व्यावहारिक जीवन में बहुत आवश्यक है। जैसे एक डाक्टर या वैद्य जानता है कि शरीरके अन्दर के भाग जबतक अमुक स्थिति में रहते हैं तबतक मनुष्य नीरोग रहता है, उसस्थितिमें थोडासाभी अन्तर हुआकि मनुष्य रोगग्रस्त हो जाता है। अब रोगी को अच्छा करने के लिये वह क्या उपाय करता है? आरोग्यता की दशामें शरीरके अन्दर के भाग जिसस्थितिमें होने चाहियें उस स्थितिमें उनको फिरसे लानेके लिये वह प्रयत्न करता है। दूसरा दृष्टान्तः-यदिकोई मनुष्य नाव बनाना चाहे और उसको पानीमें तैरने लायक बनानाहो तो वह क्या करेगा? वस्तु किन संयोगोंमें पानीमें तैरसकेगी और किन संयोगोंमें वह डूब जायगी यह ज्ञान वह प्राप्त करेगा; और नावकी बनावटमें इस कार्य कारण संबंधी अनुभविक ज्ञानके आधारपरही वह चलेगा। अर्थात् डाक्टर या वैद्य आरोग्यकी सिद्धि चाहे और नाव बनाने वाला न डूब सके ऐसा नाव बनाना चाहे तो इन दोनोंको प्रकृतिके नियमों परही

चलना होगा। डाक्टर या वैद्यको शरीरके नियमोंका पालन करना पडेगा और नाव बनाने वालेको पानी लकडी, लोहा, हवा आदिपदार्थोंके नियमोंका पालन करना होगा।

अब इस संबंध में यह बात स्पष्ट है कि यद्यपि वृक्षों पौधों अथवा मनुष्यके शरीरके संबन्धमें अथवा पानी, लकडी, हवा, लोहा आदिके विषयमें स्वल्पज्ञान सबको होता है, परन्तु इनका सम्पूर्ण ज्ञान रखने वालोंका संख्या बहुत कम होतीहै। वनस्पतियोंके शास्त्रका ज्ञान अथवा शरीर के शास्त्रका ज्ञान अथवा नौकाओंके शास्त्रका ज्ञान बहुत कम लोगोंको होता है। यदिहम इस संबंध में अपना ज्ञान बढाना चाहेंतो हमें इन विषयोंके शास्त्रकोविदोंकी सहायता लेनी पड़ेगी अथवा उनके साथ रहकर ज्ञान प्राप्ति करनी होगी। जो कहा जाताहैकि " ज्ञान एक शक्ति है " उसका अर्थ यह है कि प्रकृतिके तत्त्वोंके नियमोंका ज्ञानहोनेसे हमारा प्रकृतिपर अधिकार हो सकता है; जैसेकि भाफ के नियमोंके ज्ञानके कारण हम रेलगाडी चला सकते हैं। लौर्ड बेकन नामक अंग्रेजी तत्त्वज्ञने प्रकृतिके वास्तविक ज्ञानकी उपयोगिता पर बहुत जोर दियाथा और कहाथाकि प्रकृति ज्ञानसे काबूमें लाइ जा सकती है; इस लिये प्रकृतिके नियमोंका व्यवस्थित रीतिसे अभ्यास करना हमें इष्ट है।

ये सब बातें जीवनके जिस अंशका अभ्यास हमें इस पुस्तकमें करनाहै उसके संबंधमेंभी उपयोगी हैं। नीतिकाशास्त्रभी नैतिकबातों

विशेषताओं या तत्त्वों का व्यवस्थित रीतिसे वर्गीकरण रूपही है, और उसमें भी इन वस्तुओं का परस्पर क्या संबंध है इसीबात का अभ्यास किया जाता है। परन्तु ये नैतिक वस्तुएं नैतिक विशेषताएं और नैतिक तत्त्व क्या हैं? आंखोंसे न देखी जाएं कानोंसे न सुनी जायं और चमड़ेसे न छुई जायं ऐसी वस्तुएं ये हैं। कोई लोग कहते हैं कि उनका ज्ञान बुद्धिसे होता है। कोई कहते हैं कि उनका ज्ञान अन्तर्ज्ञानकी अमुक विशेष शक्ति (चिद्वृति) से होता है। परन्तु यह ज्ञान किस प्रकार होता है इस प्रश्नकी अपेक्षा अधिक आवश्यक बाततो यह है कि हमें यह ज्ञान होता है यह बात ठीक है। वह क्या है? यही कि हमारे कई एक विचार कई एक शब्द, कई एक संवेदन कई एक कृत्य साधु हैं, और कई एक असाधु हैं; कुछको हम प्रशस्य मानते हैं कुछको अप्रशस्य। यह भी जरूर है कि मनुष्यके चारित्र्यकी अमुक दशा को हम धन्य और अनुकरणीय मानते हैं, और अमुक दशा को धिक्कार के योग्य और त्याज्य समझते हैं। मनुष्य अपने एवं औरोंके चारित्र्य और कृत्योंपर जो विवेचन और नैतिक गणना करता है उस विवेचन और गणना में जो तत्त्व रहे हैं उनपरही नीतिशास्त्र की रचना हो सकती है। किस प्रकार के विचार, किस प्रकारके वचन, किस प्रकारके संवेदन और किस प्रकारके कृत्य साधु गिने जायं और किस प्रकारके असाधु यह उस शास्त्रका मुख्य प्रश्न है। इस शास्त्र में यह विवेचन किया

जाता है कि हितकर वस्तुका स्वरूप कैसा होता है। जीवनके श्रेयस्कर अनुभवों का एक साथ वर्गीकरण होकर वे किस प्रकार एक दूसरे के संकलित हैं यह देखना उसमें आवश्यक होता है।

नीतिशास्त्रकी रचना किस प्रकारकी बातों के आधार पर होती है इसका इस स्थल पर कुछ दृष्टान्तोंसे स्फुटीकरण करें। यदि कोई पिता अपने बच्चों को पूरे कपडे और खाना देता हो तो हम उसको अच्छा कहते हैं और यदि वैसा वह न करता हो तो उसको खराब कहते हैं। अन्य बातोंमें उसके लिये हमारा कैसा भी अभिप्राय हो परन्तु इस खास बातमें तो हम उस के लिये दूसरा अभिप्राय नहीं रख सकते हैं। परन्तु मान लिया जाय कि उस मनुष्यने इस काम के लिये द्रव्य प्रामाणिक श्रमसे नहीं किन्तु किसी के मकानमें प्रवेश करके चोरीसे लिया है। इस दशामें हम कहेंगे कि मनुष्यको अपने बच्चोंका भरणपोषण करना यह एक अच्छी बात है, परन्तु चोरी करके यह करना बुरा है। किसीभी संयोगमें मनुष्य अपने बच्चोंकी तरफ लापरवा रहे और चोरी करे इन दोनोंको हम असत्कृत्य मानेंगे। दयालुता और स्नेहभाव इन दोनोंको हम अच्छे कहेंगे, और इसके विरुद्ध द्वेष और दुःख देने की वृत्तिको हम बुरी बतायंगे। इसी तरह सत्य भाषण अच्छा और असत्य भाषण बुरा माना जायगा। ये केवल थोडेसे सहल दृष्टान्त हैं, और शास्त्रों की तरह नीति शास्त्रभी साधारण मनुष्यों के अनुभवों पर नहीं स्थापित हो सकता है। नीति शास्त्रमें भी

वस्तुओं की सूक्ष्म रीति से समालोचना करनी पडती है और उनका सुव्यवस्थित रीतिसे वर्गीकरण होता है। जिसतरह और शास्त्रोंका अभ्यास उन शास्त्रोंमें रस लेने वाले तत्त्वज्ञानी लोग हीं करते हैं उसी तरह इस शास्त्र का भी खास उसके अभ्यासी लोग ही अन्वेषण करते हैं। यदि नैतिक जीवन के संबंधमें हम उत्तम अभ्यास करना चाहें तो हमें नीतिके प्रख्यात उपदेशकों और प्रख्यात तत्त्वज्ञों के उपदेशों के पुस्तकों का परिशीलन करना चाहिये। व्यवहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो सब मनुष्यों को अपने अपने कुछ कुछ नैतिक अनुभव होते ही हैं। तथापि वे अनुभव प्रायः अपूर्ण, असंबद्ध और फूटे होते हैं। नैतिक जीवन क्या वस्तु है इसका शास्त्रीय और स्पष्ट अर्थ समझने के लिये दृढ मननकी आवश्यकता है।

भौतिकशास्त्रोंके विषयमें हम देख चुकेहैंकि उनमें समताओंका वेचार कियाजाताहै। यद्यपि नीतिके विषयमेंभी यह कहा जायाकि उसमें ऐसी समताएं विद्यमानहैं तो कुछभ्रांति होनेकी संभावना है। तथापि हम कहसकते हैंकि ऐसी समताएंया नियम नीतिमेंभी अवश्य होतेहैं। कारण यह हैकि जैसे शारीरिक आरोग्य संपादन करनेके लिये मनुष्योंको शारीरिक नियमोंका पालन करना चाहिये वैसही नैतिक आरोग्य संपादन करनेके लियेभी नैतिक नियमोंका पालन करनेकी आवश्यकता रहतीहै। जिसतरह वैद्य या डाक्टरको आरोग्यताके नियमोंका अभ्यास करना होता है उसी तरह नीतितत्त्वज्ञोंको मनुष्यके

उदात्त चारित्र्यके नियमोंक अन्वेषण करना पडताहै। यहां यह स्मरण रखना चाहियेकि मनुष्य एक सामाजिक व्यक्तिहै और इसलिये उसके चारित्र्यको उदात्त कब कहना चाहिये इसबातका निर्णय करते समय हमें उसका समाजके साथका संबंध ध्यानमें रखना पडेगा। उसके नैतिक नियम केवल व्यक्ति जीवनके नैतिक नियम ही नहीं परंतु सामाजिक जीवनके नैतिक नियमभी होने चाहियें। समाजमें मनुष्य को उचित रीतिसे रहना हो तो उसको सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल अपने व्यक्ति जीवनका बर्ताव भी रखना चाहिये।

नीतिशास्त्र का उद्देश्य मनुष्यका सबसे अधिक उदात्त जीवन किस प्रकार का होना चाहिये इस संबंधमें अन्वेषण करना है। इतना तो स्पष्ट है कि नैतिक जीवनका स्वरूप विशेष रूपसे मनुष्यों के हेतुओंपर यानी उसके मानसिक स्वभाव के स्वरूप पर निर्भर रहेगा। प्राचीन ग्रीक लोग का मत था कि मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है इस कारण वह नीतिमान जीवन व्यतीत कर सकता है इस मत का साधारण रीतिसे स्वीकार हुआ है। कईवार यह सूचना भी होती है कि कुछ निम्न कोटिके प्राणियों में भी नैतिक जीवनका अंश रहता है; जैसे कि पालतू कुत्तोंमें; तथापि अबतक किसीने यह मत प्रदर्शित नहीं किया है कि कुत्ते या और निम्न कोटिके प्राणियों की जाति नीति या अनीतिका आचरण करने योग्य मानी जाय। इसी तरह जिस मनुष्य के दिमाग में कुछ न्यूनता हो अर्थात् जिसकी

मानसिक शक्ति अपूर्ण हो या जो पागल हो उसको भी हम उसके कृत्यों के लिये उत्तर दायी नहीं मानते हैं। वैसेही कोई मनुष्य नींदमें कुछ बुरा काम करे तो उसको भी हम उस काम के लिये निंद्य नहीं समझते हैं। शराबी मनुष्य भी अपने कृत्यों पर काबू नहीं रखता है; अतः हम उसे सावधान मनुष्य की तरह उत्तर दायी नहीं मानते हैं; तथापि शराब पी जानबूझकर होश खो बैठने के लिये वह निंदा पात्र अवश्य होता है। अमुक अवस्था तक छोटा बालक नैतिक भेदों का महत्त्व नहीं समझता है। वहतो सिर्फ यही देखता रहता है कि अवस्था में अपनेसे बडे मनुष्य किस बातको अच्छी और किस बातको बुरी ख्याल करते हैं। अच्छे चारित्र्य के वास्तविक अर्थका इससे अधिक अनुभव उस को शाय-दही होता है। इस लिये जिन कृत्यों के लिये हम बडी अवस्था के मनुष्यों की निन्दा करते हैं उन्ही कृत्यों को करते देखकर भी बालकों को हम निंद्य नहीं मानते। इस परसे यह बात स्पष्ट होती है कि नीतियुक्त वा अनीति युक्त कृत्यों के हमारे विचारमें कर्त्ता की बुद्धि कैसी थी, उसका मन कैसा था, उसके होश ठीक थे या नहीं, इन बातों का हम अवश्य खयाल करते हैं। प्रायः यहभी कहा जाता है कि हमारे जीवन पर बुद्धिका अधिकार जमाने में नीतिका रहस्य यह आत्मसंयम क्रमशः प्राप्त हो सकता है। जीवनकी छोटी छोटी और जुदी जुदी विशेषताओं पर अपनी सत्ता स्थापित करने में यह संयम रहा हुआ है। ये विशेषताएं

कौनसी और कैसी हैं इस बातका विवेचन करना नीतिशास्त्र का काम है।

नैतिक जीवन का विचार करते समय मानसिक स्वभावका एक अन्य प्रकारसे निरीक्षण करनाभी जरूरीहै। मनुष्य जो काम संकल्प पूर्वक अथवा सहेतुक करताहै उसके लिये ही वह नीतिमान् वा अनीतिमान् कहाजाताहै किसी मनुष्यको कोई अन्य मनुष्य किसी तरहके दबावसे कोई काम करनेको मजबूर करेतो अमुक संयोगोंमें हम उसको उस कामके लिये उत्तर दायी नहीं मानतेहैं इस संबंधमें पाश्चिमके विद्वानोंने प्रारंभिक कालसे इच्छा स्वातंत्र्य अथवा 'प्रवृत्ति स्व तंत्र्य' के विषयमें चर्चा की है। मनुष्य केवल स्वतंत्र रीतिसे तो कृत्य करे उसका वह उत्तर दायी हो सकताहै। उसकी कोईभी इच्छा या प्रवृत्ति स्वतंत्र होतीहै या नहीं ? इस प्रश्नको 'इच्छा स्वातंत्र्य' अथवा 'प्रवृत्ति स्वातंत्र्य' का पक्ष कहतेहैं यह प्रश्न तात्विकहै, अन्तिमहै, गूढहै, और पश्चिमके विद्वान् गहरेसे गहरे प्रश्नोंकी विचार करने वाली तत्व विद्यामें उसका विचार करतेहैं। वह विषय सामान्य फिलसुफीसे जुदा माना जाताहै; इसलिये उसका विवेचन इस पुस्तकमें करना अवश्यकहै कई समर्थ विचारकों का मत है कि नीतिशास्त्रके विवेचनमें इस इच्छास्वातंत्र्य के तात्विक विवेचन की जरूरत नहीं है; क्योंकि हम इच्छा शक्तिको स्वतंत्र मानें या निर्णीत मानें तो भी इसका नीति विवेचन के विषयों पर कुछ असर नहीं होगा इस विचार से

हम सहमत होंगे और इस प्रश्नको हम नहीं छुएंगे। महत्व की बात यही है कि सदसत् कर्म करते समय "मैं इसको ठीक समझता हूं" या "उसको ठीक समझता हूं" यह चुनाव करते हैं, ऐसा ज्ञान हमें होता है। इस ज्ञान में तात्विक सत्यता है या वह भ्रम मूलक है यह प्रश्न निरालाही है। यह चुनाव किसी भी तरह समझा जाय परन्तु हम उसका अनुभव करते हैं यह बात निर्विवाद है। हमारे दैनिक निश्चयों में इस चुनावका अस्तित्व स्पष्ट रीतिसे दृष्टिगोचर नहीं होता है; परन्तु विशिष्ट नैतिक विकल्पोंमें "इसको करूं या उसको" ऐसे संशय के समयमें वह स्पष्टतासे मालूम होता है। पाश्चात्य अग्रगण्य तत्वज्ञोंमेंसे एक कैन्ट का कथन था कि "मुझको यह करना ही चाहिये" इस कर्तव्य बुद्धिके अनुभवमें "मैं इसको कर सकूंगा" इस प्रवृत्ति स्वातंत्र्यका भाव रहता ही है; अर्थात् इस तरह या उस तरह कर सकने की शक्ति यदि हममें न हो तो "यह करो या वह करो" यह कर्तव्य की आज्ञा निरर्थक हो जायगी। परन्तु ऐसी आज्ञाका अनुभव तो हम सब को होता है; इस लिये वह शक्ति भी हमारे स्वभावमें विद्यमानही है।

परन्तु सत्कर्म और असत्कर्म के चुनाव का यह प्रश्न नीति के संबंधमें अकेला ही विशेष रूपसे लाक्षणिक नहीं है। नीतिमें अन्य लाक्षणिक बातें ये हैं कि "मुझे यह करनाही चाहिये" ऐसी जो नीतिकी आज्ञा है वह केवल आत्म स्थापित आज्ञा न

होती हुई एक तात्विक आज्ञा है। इस आज्ञामें मनुष्य अपने अंतःकरणमें तात्विक दबाव का अनुभव करता है; इस आज्ञाका अनादर किसी तरह की स्वयंनिर्मित की हुई आज्ञाका अनादर नहीं है, परंतु तत्वतः सत्य ऐसी जगत्‌में सर्व व्यापी अपने अन्तःकरणद्वारा प्राप्त होती आज्ञाका अनादर है। कर्तव्य विषयके विचारके साथ इस प्रकारकी भावना लगी हुई है; इस प्रकारका संवेदन संलग्न है; यदि किसी मनुष्यने ऐसे संवेदनका अनुभव न किया हो तो ऐसे मनुष्य को कर्तव्यका ज्ञान देना असंभव है। जो आदमी हमें यह कहे कि असुक कर्म मार्ग हमारा कर्तव्य मार्ग है वह आदमी यह मान लेता है कि उसका कथन हम अपनी भावनाओं अथवा संवेदनों के द्वारा समझ सकेंगे। कोई यहभी कहते हैं कि यह अन्तर दबावकी भावना या आन्तरिक दबावका संवेदन हमारे अन्तःकरणमें बोलताहुआ ईश्वरका शब्द है। हमारा कर्तव्य यह है कि जिसको करनेको हमबद्ध हैं समाजके मत या स्वयं हमारी ओर वह एक हमारा कर्मऋण है। औरोंके लिये या हमारे लिये जो जो अच्छे काम हमसे बनसकें उनको करनेसे इस ऋणसे हम मुक्त होते हैं। हमें वह सम्पूर्ण रीतिसे करना चाहिये; थोडासाभी कमकरेंगे तो उसऋणसे हम मुक्त नहीं हो सकेंगे। जब हम कर्तव्य का वर्णन करते हैं हम स्वकिार करते हैं कि कर्तव्य एक गहन विषय है। वह नित्य है। हमारी सुखदुःख की इच्छाएं अनित्य हैं इस लिये कर्तव्य उनसे विरुद्ध हैं। कर्तव्यकी गंभीरता और

नित्यता महाभारतकी नीचे दीहुई पंक्ति में स्पष्ट रूपसे वर्णन की गई है:–

नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्व नित्ये। जीवो नित्यः हेतु रस्य त्व नित्यः॥

वही गांभीर्य और वही नित्यता एक अंग्रेज कविने इस तरह वर्णन की है

I slept and dreamed that life was beauty :
I woke and found that life is duty.

"जब तक मैं मोहकी अवस्थामें था मुझे यह भास होताथा कि जीवन सौंदर्य रूप है; परन्तु वह मोह नष्ट होनेपर जागृत अवस्था में मालम हुआ कि जीवन कर्तव्य स्वरूप है"। इस कवितासे भा थोड़ा अधिक सूक्ष्मविचार करने वाला मनुष्य यह निश्चय कर सकताहै कि अन्तमें कर्तव्य निमग्न जीवन सुन्दर जीवन भी बन सकता है। आदर्श रूप मानवजीवनमें सौंदर्य और कर्तव्यका विरोध न होते हुए उन दोनोंका एकीकरणही होता है।

कर्तव्य के विचारसे मिलता हुआ और उससे परस्पर आधार संबंध रखनेवाला विचार "हक-अधिकार" का विचार है। प्रत्येक मनुष्य के अमुक हक-अधिकार होते हैं। जैसा कि जीनेका अधिकार, पेट भरनेका अधिकार, कपड़े लत्ते प्राप्त करनेका अधि-कार, कानून की दृष्टिसे समानता का अधिकार। यह प्रत्येक अधिकार उससे संबंध रखनेवाले कर्तव्यपर आधारभूत है। मनुष्य का जीने का अधिकार है; परन्तु उसके साथही उस का कर्तव्य

है कि दूसरों क उस अधिकार का वह स्वीकार करे; अर्थात् सीधी या टेढी रीतिसे वह किसीकी हिंसा न करे यह उस का फर्ज कर्तव्य है। उस का पेट भरने का अधिकार है, तो उसके साथही सीधीया टेढ़ी रीतिसे खाद्य वस्तुओं के पैदा करने के काम में मदद देना उस का कर्तव्य है। यदि कानून में समानता का हक़ उसको इष्ट हो तो उसको चाहिये कि दूसरों के उस हक़ का वह स्वीकार करे। हक़ और फर्ज-अधिकार और कर्तव्य-सदैव साथ साथ ही विचार के विषय होते हैं।

वहुत से देशों में और सच कहें तो बहुत से लोगों में कर्तव्य से विरोध रखते हुए एक विशेष विचार का स्वीकार होता है। यह कर्तव्य की उत्तमता वा कर्तव्य के मूल्य का विचार है। यह मान लिया जाता है कि मनुष्य अपने कर्तव्य से विशेष भी कुछ कर सकता है। जिन कार्यों के करने के लिये मनुष्य कर्तव्य के विचार से बंधा हुआ नहीं है वे यदि श्रेयस्कर होंतो वे अमुक उत्तमता या अमुक मूल्य रखनेवाले काम माने जाते हैं; और जो काम हमारे कर्तव्य हों उनको न करने से अमुक अनुत्तमता या अमुक मूल्य क्षति प्राप्त होती है। मूल्यवान काम करनेसे चार लाभ हो सकते हैं। उस काम के कर्ताका आत्मगौरवका भाव बलवत्तर होता है; जिनके भलेबुरे अभिप्रायकी उसको दरकारहो उनसे उसको प्रशंसा मिलती है, उसके काम औरोंकेलिये अच्छे दृष्टान्त रूप होते हैं, और नीतिकी प्रगति के पोषक बनते हैं; और अन्तमें बहुतसे

धर्मोंका यहमत है कि अमुक उत्तमता या मूल्यके काम करनेसे भविष्यपर प्रभाव पडता है, जैसाकि पुनर्जन्म होनेपर मनुष्यका अमुक योनिमें जन्म होता है, अथवा मोक्ष साधन के कार्यमें उसको सहायता मिलती है। नीतिशास्त्रमें शास्त्रीय दृष्टिसे देखनेपर उत्तमता या मूल्यका यह विचार शायदही दृढतासे सत्य कहा जासके; क्योंकि शास्त्रीय रीतिसे कथन करते हुए हमें कहना ही पडेगाकि मनुष्यसे जोकुछ होसके वह सब करना उसका कर्त्तव्यही है। कर्त्तव्यकी कोटिमें समावेश न होने परभी उत्तमता और मूल्य रखनेवाली शायदही कोई वस्तु बाकी रहती हो। यहभी संभव है कि कुछ लोगोंके विषयमें उत्तमता और मूल्यके अंकनका यह विचार हानिकारक भी होजाय; क्योंकि उससे यह सूचित होताहै कि वे यह मानेंलेगे कि कुछबातें ऐसी होती हैं कि उनको वे चाहे करें वा न करें तोभी उनका चारित्र्य अनवलिप्त ही रह सकेगा। परन्तु कुछ अन्य लोगोंके लिये (और यहवर्ग बडाहोनेका संभव है) उत्तमता या मूल्यके अंकनका यह विचार स्वीकार करनाही ठीक होगा। उसविचार के स्वीकार के आधार परही मान और खिताब दिये जाते हैं, उसके आधार परही प्रशंसनीय लोक सेवा करने वाले महापुरुषोंकी यादगार के पृथक् पृथक् स्वरूप बनते रहते हैं।

जीवनके आदर्श अथवा नैतिक उद्देश्यमें क्या क्या बातें रही हुई हैं, इस विषय पर विचार करनेसे मालूम होगा कि स्त्रियों व

पुरुषों में से बहुतसे दैनिक जीवनके उपयोगी भिन्न भिन्न कर्तव्य क्या हैं उसका एक मतसे और निश्चित रूपसे स्वीकार करतेहैं, तथापि समग्र जीवनका क्या आदर्श होना चाहिये इस विषय में उनका एक मत नहीं होता है। नीतिशास्त्रमें महत्वपूर्ण प्रश्न यही है। यह प्रश्न पृथक् पृथक् कर्तव्य बतलाकर निश्चय करनेका नहीं, परन्तु समग्र जीवन का आदर्शक्या होना चाहिये इसका निश्चय करने का है। केवल पृथक् पृथक् कर्तव्य प्रदर्शित करनेसे लोगोंको संतोष नहीं होता है; जो महत्वका ज्ञान वह ढूंढते हैं वह इन कर्तव्योंका क्यों स्वीकार होना चाहिये इस प्रश्नके निराकरण रूप है। कर्तव्यों को व्यवस्थित कियाजाय, जीवन अमुक एक साध्य वस्तुके साथ सुसंगत कियाजासके, जीवनकी भिन्न भिन्न प्रवृत्तियां एक दिशाकी ओर अभिमुख कीजाकर जीवित साफल्य सिद्ध हो सके ये बातें महत्त्व पूर्ण हैं; क्योंकि एकही मुख्य साध्यका स्वीकार होने पर अलग अलग कर्तव्य व्यवहार के प्रसंगवशात् अनुमित किये जाकर चुन लिये जासकते हैं। जीवनका साध्य अथवा जीवनका महत्त्वपूर्ण आदर्श कुछ लोग एक बताते हैं और कुछ दूसरा; कुछ लोग आनन्दको ढूंढतेहैं; तोकुछ निवृत्ति अथवा शान्तिकी इच्छा करते हैं; कुछ लोग हितकी प्रवृत्ति में मग्न रहते हैं, तोकुछ आत्माकी उन्नति में दत्तचित्त रहते हैं; कुछ ईश्वरके साथ एकता के अभिलाषी होतेहैं तो कुछ ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करते हैं। यह माना जाताहै कि ऐसेही किसी सामान्य आदर्शमें से जीवनके दैनिक कर्तव्य व्यव-

द्वारके प्रसंगमें चुन लिये जाते हैं। यद्यपि ऐसा होसके या नहीं यह एक संशयग्रस्त प्रश्नहै, तथापि इतना तो कह सकते हैं कि जो लोग आरोग्यमय सबल नैतिक जीवन बिताना चाहें उनको अपने चित्तमें किसी खास आदर्श अथवा साध्यके निश्चितरूपसे संभाले रहना चाहिये। ऐसे आदर्शके विषयके सामान्य प्रश्नोंका विचार इस पुस्तकके दूसरे भागमें किया गया है। इनमेंसे पश्चिममें कौनसे प्रश्नोंका स्वीकार हुआ है और पूर्वमें कौनसे प्रश्नोंका इसका विवेचन इस भागमें किया गया है। मालूम होता है कि जगत्‌के बडे सुधारकों ने सदैव अमुक आदर्शोंका उत्साह पूर्वक स्वीकार किया है, उस उत्साहमें उनकी सबल श्रद्धा होती है, उस उत्साहको वे अपने जीवनमें ओत प्रोत करदेते हैं; उस उत्साहकी उनकी अमुक धार्मिक श्रद्धासेभी सबल पुष्टि होती है। विशेष करके प्राचीन समयमें ऐसे सुधारक लोग धर्म प्रवर्तक होकर विख्यात हुए थे। इस लिये शास्त्रीय रीतिसे प्रतिपादित होते हुए नैतिक जीवनका धार्मिक जीवनसे क्या संबंध है इस विषय का भी विचार करना चाहिये।

बहुतसे लोगोंके विचारमें नीति और धर्म संलग्न रहते हैं, उनके विचारमें नीतिमान् होना और धर्मिष्ठ होना बराबर हैं क्योंकि सामान्य रीतिसे माना जाता है कि धर्म में नीतिके सब नियमोंके उपदेश का समावेश होताहै। धर्मनीतिसे सर्वथा अधिक व्यापक है; क्योंकि धर्मके कार्योंमें धर्मकी क्रियाओं तथा धर्मके आचारोंका समावेशभी होजाता है। तथापि उन क्रियाओं और आचारों का पालन

न करनेसे मनुष्य अनीतिमान् नहीं हो जाता है। नीतिधर्मकी संकलना मुख्य मुख्य बातों में लाभकारक हुई है, उसका कारण यह है कि धर्म जब किसी अच्छे कामको पुष्टि देता है; तब नीतिमय जीवन का तात्त्विकभाव अथवा उसका गांभीर्य बहुतबढ जाता है। जिस तरह बाह्यप्रकृतिके शास्त्र केवल घटनाओंके कार्यकारण संबंधों का प्रतिपादन करके संतुष्ट होते हैं, इसी तरह आंतर प्रकृतिका यह एक शास्त्र अथवा नीतिशास्त्र शास्त्रीय रीतिसे केवल नैतिक प्रसंगोंके संबंधमें जीवनके मुख्य आदर्शकी संकलना करके ही संतुष्ट होता है। परन्तु हमारी धार्मिक श्रद्धाएं इससे आगे जाती हैं। वे श्रद्धाएं बाह्य एवं आंतर सृष्टिको अधिक व्यापक और उच्चतर तत्त्वोंके साथ अन्तिम ऐक्य रखती हुई बतलाती हैं। इसका उदाहरण ईश्वर विषयक विचार और आत्माके अमरत्व विषयक विचारके स्वीकार में हमें मिल सकता है। यह माना जाता है कि जब हम किसी नैतिक नियमका पालन करते हैं तब हम किसी प्रकारके मनुष्यकृत नियमका पालन करतेही नहीं, परन्तु ईश्वरेच्छा का पालन करतेहैं, जगतके तात्विक और अन्तिम सत्यका पालन करते हैं, अमुक नित्य सत्यको साध्य गिनते हैं, और, अंतमें उससे शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार आत्मा अमरहै यह विचार नीतिका गांभीर्य बढ़ानेके कार्यमें हमारा सहायक होता है। जब यह माना जाय कि आत्मा अमरहै तब यहभी माना जायगा कि जीवनका वृत्त ऐहिक हितमें ही परिवेष्टित नहोकर पारलौकिक हितोंकाभी अपने में समावेश करता है और इससे

जीवनके आदर्शका स्वरूप अधिक व्यापक बनसकता है। जिस उन्नतिकी सिद्धिके लिये हमारा ऐहिक जीवन पर्याप्त नहीं है वह उन्नति यदि आत्मा अमर होतो अन्य जीवनमें सिद्ध हो सकेगी यह धार्मिक श्रद्धा बहुतसे लोगोंके नैतिक प्रयत्नोंमें सबल उत्साहकी प्रेरणा करती है।

एक और रीतिसेभी धर्म नीतिका सहायक हो सकता है। मनुष्यके संवेदन और भावनाओं द्वारा धार्मिक क्रियाओं और प्रार्थनाओंके प्रसंगम एकत्रित हुए स्त्री पुरुषोंके मनमें अमुक प्रकारकी ऐक्य भावना उत्पन्न होती है। धर्म नीतिको अमुक उत्साह और बल देता है। परन्तु इसी विषयमें नीतिको धर्म से बहुत सावधान रहना चाहिये क्योंकि यह उत्साह और ये भावनाएं यदि नीची पंक्तिके नीति विचारोंके साथ एकवार संलग्न हुए तो फिर वेही अधिक शुद्ध और उच्चतर नीति विकास के विरोधक तत्वभी बनजाते हैं। अक्सर जिन आचार विचारोंकी उपयोगिता नष्ट होगई हो, वे आचार विचार व्यक्ति और समाजको हानिकर होनेपरभी धार्मिक भावनाके बलपर बने रहतेहैं और समाजके नतिक जीवनके आरोग्यमय विकास को राकदेते हैं। इसलिये यह एक ऐसी बात है कि उसमें नीति और धर्मको परस्पर सहायक होना चाहिये। जिस तरह धर्म नीतिको बल देताहै, उस तरह नीतिको चाहिये कि वह धर्मको बल दे। जिस तरह धम नीतिको विशुद्ध बनाताहै उसी तरह नीतिको चाहिये कि वह धर्मको विशुद्ध बनावे। निम्न प्रकारके

आध्यात्मिक जीवनका अनुसरण करनेवाले धार्मिक आचार विचारों के जो अनुपयोगी अंश समाजमें प्रवेश कर गये हों उनको प्रगति शील शुद्ध नीतिने निकाल देना चाहिये। इस विषयमें अनिष्ट परिणाम स्पष्ट रूपसे एक प्रसंगमें उत्पन्न होताहै। धर्मके आचार विचार परजो सामाजिक वर्गीकरण हुए हों उनका जब अमुक दृढ समूहों या जातियोंके रूपमें विकार हो जाय तब उसका परिणाम उत्तम आदर्शों के अनुसार नहीं होताहै। जब धर्मके मिषसे कोई मनुष्य दूसरे के श्रेयकरनेमें रुकजाय तब यह केवल नीति का ही विरोधी न रहकर स्वयं धर्मके रहस्यसे भी उसका विरोध होताहै। समग्र जनसमूहका हित व्यक्तियों के अथवा व्यक्ति समूहोंके हितसे बढकर है, यह धर्मका रहस्य है। इसलिये यह आवश्यक है कि धर्म में रहे हुए नीतितत्व निश्चल न होकर नीतिविकास जिस दिशामें होना चाहे उसके अनुकुल रहने चाहियें; और जैसे ऊपर कहाहै नीतिके आदर्शभी धर्मसे संलग्न होने चाहियें। नीतिको धर्मसे सहायता मिलनी चाहिये कि जिससे उदात्त धार्मिक भावनाओंसे और पाप पुण्यके विचार द्वारा प्राप्तहुए उत्साह से नीति जीवनको सतत बल मिलतारहे।

इस पुस्तक के शास्त्रीय और व्यवस्थित भागमें प्रवेशकरनेसे पहले नीति जीवन किस प्रकार शिक्षित हो सकता है इस बात का स्वरूप विचार करें। यह तो सब स्वीकार करेंगे कि नीतिमय वर्तन रखनेसे और सच्छील धारण करनेसे पहले ये दोनों किस किस बातमें रहे हैं यह ज्ञान हमें होन चाहिये। जब हम देखते

हैं कि बहुतसे लोगोंको नीति संबंधी विचार प्रसंगवशात् अव्यवस्थित स्वरूपमें उपलब्ध होते हैं और सच्चा उदात्त चारित्र्य रखनेवाले मनुष्यकी संख्या बहुतकम होतीहै, तब हमारी शिक्षादेनेवाली संस्थाओंमें नैतिक शिक्षादेने की आवश्यकता का हमें भान होता है । नैतिक शिक्षा देने का [illegible] स्थान गृह है, और वहीं उसका आरम्भ होना चाहिये । इसी प्रकार धर्मके नेताओं धर्म गुरुओं धार्मिक सुधारकों और धर्मके विषयमें उत्साह रखनेवाले अन्य अग्रसर विचारकों को चाहिये कि वे धर्मनिष्ठ मनुष्यों को नीतिशिक्षण मिलता रहे इस प्रकारके उपदेशों का प्रचारकरें । परन्तु इस विषयमें केवल अनीतिका ज्ञानही पर्याप्त नहीं है यह बात सुविदितहै । इस ज्ञानको आचारणमेंलाना चाहिये, परंतु आबाल वृद्ध स्त्री पुरुषों को अच्छे जीवनमें प्रवृत्तकरनेका काम इतना सरल नहींहै जितना उस जीवनके विषय का ज्ञानदेनाहै । सद्वर्तनमें प्रवृत्तिके लिये जो आवश्यक बात है वह उत्तम चरित्रोंका अनुकरण है । नीतिविषय में औरोंका सुधारकरनेके लिये एकही राज मार्ग है; वह यहकि उनपर हम सद्वर्तनका प्रभाव डालें, हम अपना जीवन अच्छा रक्खें और हम अपने आदर्श विचारोंको व्यवहारमें लावें । माता पिता गुरु और धर्म प्रवर्तकोंका अधिकसे अधिक सबल प्रभाव उनके उदात्त चारित्र्य में रही हुई जादुई चुंबक अथवा आकर्षक शक्तिमें है । जहां यह बात न हो, विकासित होते हुए बालकों के मस्तिष्क पर योग्य और दृढशासन करनेका काम बड़ोंका होना

चाहिये। जहां इसरीतिके अच्छे नमूने होतेहैं, वहां कर्त्तव्य एक तरफ सुखावह बनजाता है, अर्थात् वहां नीति और धर्म समान रीतिसे लाभकारक होतेहैं। इसप्रकार नैतिक शिक्षण में नैतिक ज्ञानके साथ नैतिक विचार का साहचर्य वहुत आवश्यक है बुद्धिके साथ हृदयकोभी विकसित करनेवाला शिक्षण बहुत आवश्यक है, और इसलिये अच्छी आदतें डालसकें ऐसे अच्छे नीति जीवनों के प्रभावों का अस्खलित प्रवाह हमारे जीवनमें चलता रहना चाहिये।

प्रथम भाग

नीतिशास्त्रकी भिन्नभिन्न पद्धतियां

"We have an intense and justifiable pride in the contribution of our sages of by-gone days to the philosophic, the literary and the artistic wealth of the world. It should be our chief pride, our supreme duty and our highest glory to regain the intellectual supremacy of the ancient days. The atmosphere of the west is throbbing with vigorous mental life. The pursuit of new truth is the first concern of every stalwart mind of the west, while the mass of our people are content to live stolid conventional lives.

blindly following the precepts of their fathers rather than emulate the example they set of intellectual independence and constructive energy."

H. H. MAHARAJA SAYAJI RAO GAEKWAD.

"तत्वज्ञान साहित्य और कलाकी जगत्की संपत्तिमें हमारे प्राचीन ऋषिमुनिओंने जो भाग दिया है उसके लिये हमें बडा भारी और उचित अभिमान है। प्राचीन कालकी मानसिक उन्नतिको फिर प्राप्त करना हमारा मुख्य अभिमान हमारा परम कर्तव्य और हमारी उज्वल कीर्ति समझना चाहिये। पश्चिमका वातावरण उत्साह पूर्ण मानसिक जीवनसे प्रवृत्तिमय हो रहा है। जब हमारे समाजका जनसमूह हमारे पूर्वजोंके दियेहुए विचारस्वातंत्र्य और प्रतिभाशक्तिके उदाहरणोंको स्तुत्य और अनुकरणीय न मानकर, उनके उपदेशोंका अन्धश्रद्धासे अनुसरण करके निश्चल और रूढ प्रकारका जीवन व्यतीत करनेमें संतुष्ट रहा है, तब पश्चिमका प्रत्येक उत्साही मनुष्य किसी न किसी नये सत्यका अन्वेषण करना अपना परम धर्म समझता है।"

श्रीमान् सरकार महाराजा गायकवाड.

प्रथम प्रकरण

पाश्चात्य नीतिशास्त्र

पूर्वके साहित्य और इतिहासमें जो मुख्य स्थान रामायण और महाभारतकाहै वही स्थान पश्चिमके साहित्य और इतिहासमें ग्रीक देशके प्राचीन महाकाव्य 'इलियड' और 'ओडिसी' को दिया जाता है । नैतिक जीवन कैसाहोना चाहिये सद्गुण क्या और दुर्गुणक्या, मनुष्यकेलिये आदर्शजीवन कैसाहोना चाहिये, इन बातोंके संबंधमें अनेक शताब्दिओंसे आजतक पश्चिमके तत्वज्ञोंके ध्यानको आकर्षित करनेवाले प्रारंभिक विचार उन्हीं महाकाव्योंमें मिलतेहैं । उन महाकाव्योमें सहनशीलता धैर्य, शौर्य, विनय और मिताहारित्वके गुणोंका निरूपण काल्पनिक अथवा संभवतः पौराणिक वीरपुरुषों के जीवनचरितों द्वारा किया गयाहै । इनकाव्योंमें वातावरण और सामान्यरूपरेखा, और विशेषताएं ग्रीक समाजके अधिक सभ्य और श्रीमान् लोगोंके रहनसहनसेलेकर वर्णन कियेगयेहैं और विशेष करके शायदयोद्धा और राजद्वारी भागसे लियेगयेहैं । तथापि गरीब वर्गमें और विशेषतः कृषकवर्गमें प्रचलित प्रबल विचारों का क़तई विस्तरण नहीं हुवाहै । इन विचारों की चर्चा हीसीओडके ग्रंथोंमें न्यायके विचारोंके अंतर्गत हुईहै । पीछेके ज़मानेमें नीतिशास्त्रके अभ्यासको पद्धातियुक्त बनानेके लिये कियेहुए अनेक प्रयत्नोंमें इन

काव्यों में वर्णन कियेहुए विचारोंका बारंबार उपयोग कियागयाहै। ग्रीकलोगके मुख्य सद्गुण सहनशीलता धैर्य, विनय, और मिताहारित्व, प्रज्ञा और समान भाव ईसाई नीतिमें थोडेसे अंतरके साथ लियेगयेहैं। नीतिशास्त्रके कुछ प्रश्नोंकी चर्चा सोफिस्टलोगोंने अवश्य की थी तथापि पश्चिममें नीतिशास्त्रका सच्चा प्रारंभ सोक्रेटिसके उपदेशोंसे हुआ ऐसामाननेमें कोई दोष नहीं है।

पूर्व और पश्चिम खंडके प्रत्येक शिक्षित मनुष्यको सोक्रेटिस का नाम प्रायः सुविदितहीहै। और कारणोंको अलगरक्खें तोभी अपने उपदेशसे नवयुवकों को बुरेमार्ग पर लेजानेका दोष उसके ऊपर रक्खागया और क़ातिल ज़हर पिलाकर उसके प्राण लिये गये इस कारणसे उसका उपदेश क्याथा इसके संबंधमें कुछ विचार करनाहमें उचितहै। पौराणिक ग्रीक देव देवियां और उनके काल्पित दुराचारों के संबंधमें प्रचलित वहम और विचारोंको अन्ध श्रद्धासे पकड़े रहना ठीकनहीं इसआशयका सोक्रेटिसका शिक्षण था। पुराने विचार वाले उसके विरोधियों की दृष्टिमें यह दोष अनुचित न था। इसके अतिरिक्त "सद्गुण क्या" यह महत्त्व युक्त प्रश्न प्रथम उसीने उपस्थित किया और "ज्ञान सद्गुण है" यह सामान्य उत्तरभी उसीने दिया। सोक्रेटिसके पीछे की ग्रीक देशकी नीति की सब पद्धतिओं में इस उत्तर का थोडा बहुत प्रभाव देखा जाता है। इस उत्तर का अर्थ यह है कि जब किसी मनुष्यको यह ज्ञान होकि मेरा कर्त्तव्य क्या है तो वह नीतिपरायण होता है। सब दुराचारोंका मूल

अज्ञानही है। सोक्रेटिसका शायद् यह भी मत था की 'सद्गुणज्ञान है' इस सूत्रमें इससेभी विशेष अर्थ रहा हुआ है। उसको पूरा निश्चय हो गयाथा कि संपूर्ण ज्ञान की अवस्था प्राप्त होनाही आदर्श जीवनका रहस्य है। सत्कार्यों की परम्परामें नहीं परन्तु अनन्त तत्त्वों के ध्यान तथा मननमें जीवन की महत्ता और परम आनंद हैं। सोक्रेटिस के पीछे की ग्रीक देश की नीति की पद्धतियों की गति इस दिशाकी ओर विशेषरूपसे देखी जाती है। खुद सोक्रेटिसका जीवन उस सूत्र के अनुसार था या नहीं इस संबंधमें कुछ निश्चित घटनायें उस समयके इतिहाससे उपलब्ध नहीं होती हैं।

मनुष्य के मनका और जन समाज का निरीक्षण किये विना अच्छा क्या और बुरा क्या इस बातका ठीक खयाल हमें निश्चित रूपसे नहीं होसकता है, और वैसा खयाल औरोंको दियाभी नहीं जासकता है। यह महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रथम प्लेटोके ग्रंथो में ही दृष्टि गोचर होता है। इसके उपरांत श्रेयवस्तु विषयक हमारा विचार वस्तुओं के तत्व स्वरूपके साथ किसप्रकार का संबंध रखता है यहभी हमें देखना चाहिये। मनुष्यके स्वभावमें भिन्न भिन्न व्यापार वाली अनेक शक्तियां हैं। इन सर्व शक्तियों में बुद्धिका स्पष्ट रूपसे प्रधान स्थान है, क्योंकि और शक्तिओं के मार्ग दिखाने की और सत्य को पहचाननेका काम बुद्धिका है। बुद्धि आज्ञाओं के पालन करने का काम उसकी सहायक प्रोत्साहक चेतना शक्ति का है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में भाव और आवेश भी होते हैं। ये दोनों
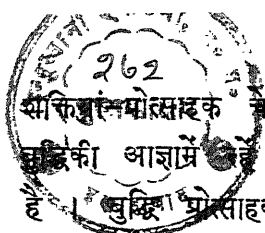
सक्रियां-प्रोत्साहक चेतना शक्ति और आवेश की शक्ति-बुद्धिकी आज्ञामें रहें या न रहें इसका कोई नियम नहीं है। बुद्धि प्रोत्साहक चेतना शक्ति और आवेश शक्ति इनतीनों से मनुष्य का मानसिक स्वभाव निर्मित होता है यह प्लेटो का मत सांख्य दर्शन में सत्व रजस् तमस् इन तीन गुणोंके भेद से मिलताहुआ है। सद्गुणी मनुष्य में उक्त सर्व शक्तियां संपूर्ण ऐक्य भाव से अपने अपने कर्तव्य करती रहती हैं। प्रत्येक शक्ति को अपने क्षेत्रमें उचित स्वातंत्र्य दिया जाता है, और बुद्धिकी सर्वोपरिता का स्वीकार होता है। इस प्रकार व्यक्तिके मानसिक

पृथक्करण होसकता है। इसीतरह समाजके तीन वर्ग या विभाग किये जा सकते हैं। मानसिक जीवन में जो कार्य बुद्धि करती है वह कार्य सारे समुदायको उसके कर्तव्य की ओर प्रेरित करना और उनको योग्य नियंत्रण में रखना यह है, यह कार्य इन तीन वर्गोंमें से रक्षकों अथवा राज्यकर्ताओं का वर्ग करता है। योद्धावर्ग चेतना शक्तिका स्थान लेता है। यह वर्ग राज्यकर्ताओंकी आज्ञाका व्यवहार में पालन कराने में उनका सहायक होता है। जैसे हृदयभाव व्यक्ति जीवन में आवश्यक है वैसेही कर्मकार और कारीगर लोग समाज जीवनका उपयोगी अंग है। इस तीसरे वर्ग को नियंत्रण में रखनेकी आवश्यकता है। नीतिकी दृष्टिसे प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि जिसकार्य में उसको प्रेरे वहकार्य करना और रक्षक, क्षात्र और कारीगर इन तीनोंमें से जिस वर्गका वह हो उस वर्ग के सभ्यकी

हैसियतमें जो कर्तव्य आवश्यकहो उसको करना, जो मनुष्य इस प्रकार जीवन व्यतीत करे वह आपने कर्तव्यका परिपालन करता है ऐसा प्लेटोके मतानुसार नीतिकी दृष्टिमें हम कह सकते हैं ।

नैतिक जीवन किस प्रकारका होना चाहिये इस संबंध में निर्णय करनेके लिये जीवन में सुखका क्या स्थान है इसबात का निश्चय करना होगा । इस प्रश्नपर प्लेटोने अपने ग्रंथें में अवलोकन किया है, और जुदे जुदे विचार प्रदर्शित किये हैं । प्रारम्भमें तो उसका मत यह था कि जिस वस्तुमें सुख मिलसके वही श्रेय वस्तु है; अर्थात सुखकी प्राप्ति और दुःखका त्याग यही मनुष्यका नैतिक साध्य होना चाहिये । पीछेसे उसको इस मत में रुचि न रही और उसकी तरफ उसकी इतनी अरुचि होगई कि उसके बिल्कुल विरुद्ध मतका उसने अवलंबन किया। वह मानने लगा कि जो वस्तु सुख-करहो वह श्रेयस्कर कभी नहीं हो सकती । उस समय उसको मालूम हुआ कि त्यागियोंकी तरह शरीरका ध्यान करने और सांसारिक बासनाओंको दबाने में आदर्श जीवन रहाहुआ है । रन दोनों अन्तिम और एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध अभिप्रायोंके अवलम्बनका परिणाम यह हुआकि अन्त में सुखका सच्चा स्वरूप क्याहै यहबात उसकी समझ में आने लगी । उसने समझ लियाकि भिन्न भिन्न साधनों द्वारा सुखकी प्राप्ति होसकती है और अच्छे या बुरे कैसे साधनों से सुखकी प्राप्ति होती है उनके अनुसार नैतिक दृष्टिसे सुखके प्रकार निर्णीत हो सकते हैं । अब अच्छा सुख और

बुरा सुख ऐसे सुखके भेद होते हैं इस निश्चय पर प्लेटो आता है। फिर एकबार अन्तमें इस प्रश्न के संबंधमें उसने विवेचन किया है। वह कहता है कि सुख परम और अंतिम श्रेय वस्तु नहीं होसकता है क्योंकि सुखके भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी अनेक स्वरूप होते हैं। सुखक्षणिक और अनित्य है। एक प्रकारका सुख भोगने के लिये अन्यप्रकार के सुखका त्याग करना पडता है; एवं सुख बहुत समय तक ठहर नहीं सकता है समय समय पर उसमें परिवर्तन होता रहता है। परम श्रेयवस्तु ऐसी क्षणिक और अनित्य नहीं होसकती है। इन कारणोंसे सुख परम और अन्तिम श्रेयवस्तु नहीं हो सकता है, यह बात अन्तमें प्लेटो को प्रकट हुई। सुख साक्षात् परमश्रेय वस्तु है इस वाद के विरुद्ध प्लेटोका यह विवेचन उपयोगी और महत्व का आक्षेप है। प्लेटो के मत के अनुसार परम श्रेय वस्तु संपूर्ण नित्य और स्थायी होनी चाहिये। सम्पूर्ण श्रेयमें ज्ञान और सुख दोनों रहे हुएहैं, परन्तु इन दोनोंमें ज्ञानका स्थान उच्चतरहै।

ज्ञान धैर्य मनः संयम और न्याय इनचार सद्गुणोंपर प्लेटो विशेष भार रखता है। दुश्मनोंको भी कुछ लाभ देना उचित हो तो वह उनको देनेमें न्याय बुद्धि रहीहै। न्यायके काममें खानगी संबंधोंका विचार तक नहीं होना चाहिये। नैतिक दृष्टिसे मित्रताकि आवश्यकता और उसकी उपयुक्तता उसने स्पष्ट रीतिसे दिखालाईहै। असत्य बोलनेसे मनुष्य धोका खाताहै। आपने हाथोंसे अपने जीवन का नाश करना यह ईश्वर प्रति आपराध करनाहै, ऐसा उसका मतथा और वह आत्महत्याके विरुद्धथा।

अपनी अध्यात्मविद्याके साथ अपने नीतिशास्त्रका संबंध प्लेटो किसतरह दिखलाताहै, इस बातका इस पुस्तकमें लंबा चौडा विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुओंके तात्विक स्वरूपके सामान्य प्रश्नका उत्तर उसने अपनी आध्यात्मिक विद्यामें दियाहै इस संबंधमें यहां इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि उसके मनमें सृष्टिका तत्वस्वरूप परमश्रेयसे एकरूपहै; अर्थात् वस्तुओं के अंतिम तत्त्व-नीति के साथ एकाकार हैं। तत्वस्वरूप वस्तु नैतिकहै।

प्लेटो के कुछ मतोंका समूल खंडन करने से ऐरिस्टोटल विख्यात हुआ है। प्लेटो के उन मतोंको तोडने के लिये उसने कोशिश की है। तथापि उसका सामान्य विचार और उसके प्राथमिक और मूलसिद्धांत प्लेटो के प्राथमिक और मूल सिद्धांतों से मिलते हैं। ऐरिस्टोटलका शिक्षणभी इसी मतलबका था कि प्रत्येक अवयव अपना अपना कार्य करे और बुद्धिको प्राधान्य देकर उसको जीवनका हेतु बनावे, इसी का नाम आदर्श नैतिक जीवन है। मनुष्यका समाज के प्रति यही फर्ज है कि समाज के एक अंगके रूपमें उसका जो कर्त्तव्य हो उसको पूराकरे। मनकी शक्तियों का ऐरिस्टोटलका पृथक्करण प्लेटोके पृथक्करण से अधिक सूक्ष्म है। उसने स्पष्ट रीतिसे बताया है कि अपने आप बुद्धि पूर्वक निश्चय करके मनुष्य जो काम करे और जिन में बाहर का दबाव या मजबूरी न हो उनही कामोंमें अच्छे बुरे का भेद होसकता है। इस सिद्धांत पर उसने विशेष भार दिया है जैसे मनुष्य में रहे हुए भावों आवेशों और शक्तियों को स्वच्छंदतासे काम करने से

रोकना चाहिए उसी तरह उनको बिल्कुल दबा देनाभी नहीं चाहिए। किसीबात का अतिशय नहीं होना चाहिये। अतिका सर्वत्र त्याग होना चाहिये, प्रत्येक बातमें मध्यम मार्ग को ग्रहण करना चाहिये। इस मध्यम मार्ग की मर्यादा को संसारके विशाल अनुभवशील बुद्धिमान् लोग ही निश्चित कर सकते हैं।

ईश्वरने सृष्टि की रचना इस प्रकार की है कि उसमें प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्थिति और संयोगों के अनुसार अमुक कार्य करना प्राप्त होता है। समग्र सृष्टि की रचना का एक अंग होनेके कारण मनुष्य को अमुक कर्त्तव्य करने परही अंतिम सुख मिलसकता है। सद्गुणी मनुष्यके आचार विचार हमेशा समान और सुसंगत होते हैं। मनुष्य जन्मसे ही अच्छा या बुरा नहीं होता है। परन्तु प्रयास और अभ्यास से अच्छा या बुरा बन जाता है। सद्गुणी जीवनका अर्थ यह है कि अच्छी अच्छी आदतें डालकर सत्कृत्यों में प्रवृत्तिरखना। अच्छे काम करने की आदत डालनेसे मनुष्य सद्गुणी बनताहै। ऐसी आदत डालने के लिये हमें समय समय पर अच्छे काम करते रहना चाहिये। हर समय अच्छे काम करने से हमारा चारित्र्य बनता है। आदर्श चारित्र्य में क्या क्या सद्गुण होने चाहिये और उसके क्या लक्षण होते हैं इस विषय पर ऐरिस्टोटल ने लंबा चौडा विवेचन किया है। यहां तो उसका थोडासा सार ही दिया जायगा। भय उत्पन्न करनेवाले प्रसंगोंमें धैर्यका अवलंबन करना उचित है उस समय भीरुता या अतिसाहसिकता अयोग्य है। हमारी बासना-

ओंको काबूमें रखने के लिये मनः संयमकी बहुत जरूरत है। खराब वस्तुओंमें आसक्ति और अच्छी वस्तुओं में अमर्यादित आसक्ति इन दोनोंका त्याग करना अच्छे मनुष्यके लिये उचित है। किसी मनुष्यकी उदार वृत्तिका तारतम्य उसकी आर्थिक स्थिति जाननेपर निश्चय हो सकता है। अपनी आर्थिक स्थिति के प्रमाणमें दूसरोंका भला करनेके स्तुत्य उद्देश्य से सुपात्रको योग्य प्रमाणमें और उचित समयपर दान देना उदारता है। उदारताका आविष्कार करनेके उपरान्त धनका अनुचित आडम्बर करके निरर्थक व्यय न करते हुए और दूसरी तरफ कंजूसीके दुर्गुणमें न फसते हुए अपने वैभवका सदुपयोग करना श्रीमानोंको उचित है। अपने लिये सकारण उच्च मत और मान रखनेवाला मनुष्य प्रतापी और गौरववान कहलाता है। वह मानता है कि अपनी सौजन्यताके कारण हम को मान और सत्कार मिलना चाहिये ऐसे मान और सत्कार केलिये वह सर्वथा योग्य है। क्रोधको दबाना और नम्रता बतलाना मनुष्यको उचितहै। सद्गुणी मनुष्य प्रत्येक मनुष्यकी तरफ स्नेह भाव रखता है; किसीको जहांतक संभव हो दुःख नहो और दूसरोंको सुख और आनंद मिले ऐसा वर्तन वह रखता है। प्रत्येक अवसर पर योग्य और अच्छा वर्तन किस प्रकारका होना चाहिये उसका बुद्धि पूर्वक विचार करके उसी प्रकार वर्तन रखना उचित है। केवल सत्यबोलने में ही नहीं परन्तु अपने वचन का पालन करने में सच्ची सत्यता रही है। ऐरिस्टो-

टलका यह भी मतथा कि पूर्ण आनंद में रहना भी मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है। जिसतरह ऐश व आराम और अविचारी सुख भोग से दूर रहना चाहिये, उसी तरह शोक व उदास वृत्तिका भी त्याग करना चाहिये।

सामाजिक जीवन में "न्याय" महत्त्वपूर्ण सद्गुण है ऐसा वह मानता था। इस लिये उसने इस गुणपर अधिक ध्यान दिया है। मनुष्य जितनेके लिये योग्य हो उतना उसको देना यह न्याय है। न्याय एक प्रकारकी तराजू है। न्यायपूर्वक वर्तन, क्या इसका ठीक तौरपर वर्णन नहीं किया जा सकता। भिन्न भिन्न संबंध-जैसे कि अपनी पत्नी के प्रति, अपने माता पिताके प्रति, अपने बच्चोंके प्रति, इत्यादि संबंधोंमें न्याय पुरस्सर वर्तन किस प्रकारका होना चाहिये, यह संबंध विशेष, स्थिति और संयोगों के ऊपर निर्भर है। किसी को इच्छा पूर्वक नुकसान पहुंचाना एक प्रकार का अन्याय है।

ग्रीस देशके तत्वज्ञान के इतिहासमें ऐरिस्टोटल के बाद दो नीतिवाद हमें प्राप्त होते हैं:—एकतो एपिक्युरस के नामसे प्रचलित ऐपिक्युरियन सुखवाद और दूसरा स्टोइकों का बुद्धिवाद। प्रत्येक मनुष्य आसानी से समझ सके और प्रत्येकको रुचिकर हो ऐसा नीतिवाद स्थापन करने की एपिक्युरस की इच्छा थी। इस लिये सुख अच्छी वस्तु है और दुःख बुरी वस्तु है यह मूल सिद्धांत उसने अपने वाद में दाखिल किया। एपिक्युरस के विषयमें

प्रोफेसर टेलर कहते हैंः—"ऐश व आराम में जिंदगी बसर करना यही उत्तम प्रकारका जीवन है इस मतलबका एपिक्युरस का सिद्धांत बिलकुल नहीं था। मिताहारी, पवित्र मननयुक्त सादे जीवनमें सच्चा सुख रहा है यह उसने अपने उपदेश और जीवन से प्रकट रीतिसे सिखलाया है। एक बड़ी बातको अलग रक्खें तो सामान्य व्यवहारिक वर्तन के लिये उसने जो शिक्षा दी है वह एक अच्छे मनुष्य के आचार विचार से बहुधा मिलती है।" इस तरह उसवाद के पक्षमें कहा जाता है तो भी सुखकी प्राप्ति और दुःखका त्याग इन दो बातों को जीवन का मुख्य उद्देश्य मानना ठीक नहीं मालूम होता। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि एपिक्युरस यहां तक मानता था कि दुःख का समूल त्याग करने से परम सुख मिलजाता है। एक स्थान पर वह कहता है कि "दुःख दूरहोजाय तो फिर हमें और किसी सुखकी आवश्यकता नहीं रहती"। मनुष्य को क्षणिक सुख के लिये तड़फना नहीं चाहिये। सतत सुख बना रहे इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिये प्रयत्न होना चाहिये। शांति और निवृत्ति में सुख है। इस बातको वह स्वीकार करताथा; तथापि प्रवृत्ति से जो एक विशेष प्रकारका सुख और उल्लास होता है उसकी प्राप्ति के लिये भी कोशिश होनी चाहिये ऐसा भी उसका मतथा। शारीरिक सुखकी अपेक्षा मानसिक सुखका मूल्य विशेषहै। क्योंकि मानसिक सुख में भूतकालके सुखानुभव का पुनः स्मरण और भविष्य के सुखकी

आशा सुखकी वृद्धि करते हैं। परन्तु एपिक्युरसके अनुयायी लोग कहतेथे कि शारीरिक सुखको भी बडा सुख मानना चाहिये इस लिये वे कहते थे कि शरीर के भोगों से विरक्त रहना और उस विषयमें त्याग वृत्ति रखना अनुचित है। मृत्यु के पीछे सुख दुःख की भावनाका संभव नहीं है, इस लिये वे मानतेथे कि सुख की प्राप्तिही जीवन का परम उद्देश होना चाहिये। सुखकी प्राप्ति के लिये हमें हमारी वासनाओंको दबाना चाहिये। जिन वासनाओंको तृप्त किये बिना काम ही न चलसके ऐसी वासनाओंको तृप्तकरना और अन्य इच्छाओंको दबादेना। इस प्रकार का सादा जीवन बसर करनेसे सुख मिलता है। इनाम खिताब आदि लोकप्रियता के परिणाम में मिलने वाले मानको ज्ञानी मनुष्य पसन्द नहीं करता। मोटे अनाज की रोटी खानेसे और निर्मल पानी पीनेसे जोसुख मिलता है वह सुख इन्द्रासन भोगने वाले को भी नहीं मिलता। जीवन का उद्देश्य सुखको माननेसे व्यवहार में क्या परिणाम होता है इस बातको इस वाद के अनुयायी लोगोंने अच्छी तरह बतलादिया है। उनके मतके अनुसार वर्तन करने से नीतिकी सामान्य भावनाओं का क्षय होनेकी अपेक्षा वे पुष्ट होती हैं। क्योंकि अंतमें एपिक्युरस इस निर्णय पर आता है कि "ज्ञान सुशीलता और न्याय बुद्धि के बिना सुख नहीं मिल सकता। इसी तरह सुखके विना ज्ञानी सुशील और न्याय पुरस्सर जीवन व्यतीत नहीं हो सकता। मुख्य और सच्चा सुख ज्ञानमें रहा है" सुखी जीवन

के लिये मित्रताकी आवश्यकताहै यह बात हमें सच्चा ज्ञान होनेपर मालूम होती है। राजकीय बातोंमें भाग न लेना ऐसी शिक्षा एपिक्युरसने अपने अनुयायी लोगों को दे रखीथी। इस वाद की प्रवृत्ति व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की तरफ अधिक है, जिससे इस विषय में वह वाद उसके समकालीन स्टोइक वाद से भिन्न पडता है। ग्रीस देशमें रोमन लोगों की सत्ता अधिक जम गई थी, ऐसे समय में उस समय के अनुकूल स्टोइक वाद विकसित हुआ। "कुदरत के नियमों का पालन करना चाहिये" यह उनका आदर्श था। परन्तु कुदरत की हरएक कृति में बुद्धिका आविर्भाव देखा जाता था, इसलिये इस आदर्शका दूसरे शब्दों में वर्णन करें तो "बुद्धिके आदेशों के अनुसार वर्तन रखना" यह होता है। यह सिद्धांत ऐरिस्टोटल के मध्यम मार्ग के सिद्धांत से बहुधा मिलता है। स्टोइक लोग अपनी वासनाओं और आवेशों को दबाने का प्रयत्न करते और इस तरह शांति और निवृत्तिकी प्राप्ति के लिये उद्यत रहते। इस स्थितिमें वे मित्र या शत्रु, लाभ या हानि के लिये बेपरवाह रहते सहन न हो सके ऐसा दुःख या आपत्ति अपने ऊपर आवे तो स्वयं अपने विषयमें स्वाधीन होनेके कारण आत्मघात करके दुःख में से आत्माको मुक्त करने के लिये वे तत्पर रहते। एपिकटेटस कहता है कि "याद रखो कि एक मार्ग तो हमेशा खुलाही है। छोटे बच्चोंसे अधिक कातरता नहीं प्रदर्शित करते हुए जैसा वे करते हैं हमें भी करना चाहिये। जब छोटे

बच्चोंकी कोई बात रुचिकर नहीं होती तब तुरंत वे कहते हैं, 'बस अबहम नहीं खेलेंगे' तो फिर मनुष्य को वस्तुस्थिति बहुत विपरीत मालूमहो तब इसको भी ऐसा ही करना चाहिये, ' अब मैं नहीं खेलना चाहता ' और रोये कूटेविना एकदम दुनिया छोडकर चल देना चाहिये। " स्टोइकवाद में समझाया गया है कि सांसारिक उपभोगोंका त्याग करना इष्ट है। इस तरह स्टोइक लोगोंका मतथा कि वासनाओंको दबादेना चाहिये और आत्माको आस पासकी उपाधियोंसे मुक्त करना चाहिये। ऐसा होने पर भी जैसे कुछ पुरातन पद्धातियोंमें जड पदार्थ दुष्ट या खराब माना गया है वैसा स्टाइक लोग नहीं मानतेथे। इस लिये वह अतिशय देह दमन के विरुद्ध थे।

शिक्षित मनुष्योंको व्यावहारिक और रुचिकर मालूम हो ऐसी नीति और चरित्र्य स्टोइक लोगों के बुद्धिवादमें हमें प्राप्त होते हैं। बादशाह मार्कस औरेलियस एक चुस्त स्टोइक था। उसने ' एकांत मनन' नामका पुस्तक अपने व्यवसायिक जीवन की कठिनाइयों मेंसे थोडीसी फुरसत लेकर लिखा है। उसने और एपिकटेटसने अपने लेखोंमें व्यावहारिक जीवन उपस्थित होने वाली नीतिके प्रश्नोंकाही विवेचन किया है। एपिकटेटसकी सामान्य वृत्ति उदासिनताकी ओरथी। "जोवस्तुएं न मिलसकें उनका जितना होसके उतना अच्छा उपयोग करना, और अन्यवस्तुओंको कुदरतकी मुनसफी पर छोडदेना" । कुदरतका अर्थ प्रभुकी इच्छा। अपने शरी-

रमें कुछ कमी होतो उसके लिये अफसोस नहीं करना चाहिये। हमें हमारे चारित्र्य का विकास करना चाहिये यही आवश्यक बात है। सद्गुणी मनुष्य एकाएक सद्गुणी नहीं हो जाते। सद्गुणसे क्या लाभ है इस प्रश्नका उत्तर एपिकटेटस यह देता है कि सद्गुणसे मनको शांति मिलती है। यदि हमारा अंतिम उद्देश्य मनकी शांति होतो जिसवस्तु या बातसे उस शांति का नाश होता है उस वस्तु या बातका त्याग करना उचित है। आत्मा उन्नत दशाको पहुंच गया होतो सांसारिक आपत्तियोंसे मनको लेश मात्र भी क्षोभ होनेका कारण नहीं रहता है। दृढता से प्राप्त होनेवाली शांत वृत्ति की ही हमें आवश्यकता है। यदि मनुष्यने अपने मनको शिक्षित किया होतो धनवान् लोग या राजसत्ता वाले लोग भी उसके मनकी शांतिमें क्षोभ करने के लिये समर्थ नहीं होते हैं।

स्टोइक लोग मानतेथे कि ऐसी मनकी शांति निवृत्तिमय जीवन बिताने से मिलती है। जातिस्वभाव के अनुसार वर्तन रखने से ही शांति प्राप्त होती है। मनुष्य जाति की स्वाभाविक वृत्ति साधारण रीतिसे प्रवृत्ति की ओर होती है। युवा मनुष्य का निरुद्यमी जीवन बिताना जिसतरह एपिकटेटस को बिल्कुल पसंद न था उसीतरह केवल लाभ के उद्देश से ही परिश्रम किये जाना उसको नापसन्द था, क्योंकि उसके मतानुसार "अच्छे और बुरेका भेद प्रत्येक कृत्यमें मनकी वृत्ति किस प्रकार की है इस प्रश्नके अवलंबन पर रहता है।" मनःसंयम और स्वमान इनदो सद्गुणों के ऊपर वह

ज्यादा जोर देता था। एक समय पर एपिक्टेटस का दिया खोगया था। उस प्रसंग पर उसने कहा था कि " मेरेदिये को चुरानेवाला आदमी सावधानता में मुझसे जरूर बढ़कर है, परन्तु एक दिये को ले जाने में उसकी बडी भारी हानि हुई है। एक दियेही के लिये वह चोर बना, उसने अपना धर्म गंवाया और स्वयं पशुवत् हो गया, यह सब उसने सिर्फ एक दिये के लिये गंवाया"। स्वमान को वे लोग कैसा महत्व देतेथे वह एपिकटेटस के ऊपर दिये हुए वचनों से हम समझ सकते हैं। मनुष्य में स्वमान होगा तो वह सदैव अपने सिद्धांतों का अवलंबन करता रहेगा। उसको राज्यसे कुछभी भय रखनेका कारण न होगा। कुछ रोग लागू होगा तो वह धैर्य रखेगा। मृत्यु जन्म के साथही पैदा होनेवाली एक घटना है ऐसा वह मानता है। बेइज्जती के साथ या पस्त हिम्मती से मौत न हो सिर्फ यही डर उस को रहेगा। जारकर्म दोष है इसका मुख्य कारण यह है कि उससे मान और विश्वास दोनोंका नाश होता है। प्रत्येक संज्ञा के संबंध में अमुक कर्त्तव्य हमारे सिरपर आता है ऐसा ऐपिकटेटस का कथन है। " पुत्र " इस शब्दमें पिता की ओर आज्ञापालन और प्रेमके कर्त्तव्य सूचित होते हैं। " भ्राता " इस शब्द में उदार वृत्ति और स्नेहभाव का कर्त्तव्य सूचित होता है, इत्यादि। " यदि तुम किसी नागरिक मंडलके सभ्य हो तो तुमको याद रखना चाहिये कि तुम एक नागरिक हो। यदि तुम जवान हो तो याद रखना चाहिए कि तुम जवान हो। यदि वृद्ध

हो तो याद रखना चाहिये कि वृद्ध हो ओर पिता हो तो याद रखना चाहिये कि पिता हो।"

स्टोइक मतका विवेचन समाप्त करके आगे चलनेसे पहिले एपिकटेटसका दियाहुआ स्टोइक के जीवात्मा का वर्णन विशेष रूपसे देखना चाहिये। "वह आत्माऐसा होता है कि वह ईश्वरके साथ ऐक्य साधनेकी इच्छा रखता है; ईश्वर या मनुष्यको किसी बातमें दोष देनेकी इच्छा नहीं रखता है, अपने कर्त्तव्य का पालन करने में वह कभी पीछे नहीं हटता है; दुर्दैवकी ओर वह उदासीन रहता है, क्रोध और ईर्ष्या के विमुख रहता है, सारांश कि वह अपने मनुष्यत्व को ऐश्वर्य तक उन्नत करने का प्रयत्न करता है, और क्षुद्र जड शरीर में रहकर ईश्वरके साथ ऐक्य साधने के विचार को अमल में लानेकी कोशिश करता है।"

रोम देशके सुशिक्षित और धनवान् स्टोइक और एपिक्युरियन तत्वज्ञों पर एवं धर्म के प्रचलित आचार विचारका पालन करने वाले सामान्य जन समूह पर ईसाई मजहब ने सर्वोपरिता प्राप्तकी। उस के बल पर जो जीवन के आदर्श महत्व पूर्ण माने गये उनका मूल यहूदी मज़हब में था। यहूदी मज़हब में नीति और नीतिमान जीवन के विषय में स्पष्ट रीतिसे धार्मिक दृष्टि सुव्यक्त होती है। समयके प्रवाहसे यद्यपि इस यहूदी मतके बहुतेरे रूपांतर हुए हैं तथापि मुख्य बातोंमें वह वैसाका वैसाही रहाहै। सदाचार और दुराचार का भेद यहूदी धर्म

मानने वाले लोगोंके मनमें कुछ न कुछ अंशमें निश्चितरूपसे इस मतके आधारपर रहा है कि इस विषयका ध्यान ईश्वर प्रेरित है। विशेष रूपसे वे मानते थे कि यह ज्ञान पैगम्बरों और खासकर मूसा द्वारा प्रेरित हुआथा। यहूदी लोगोंका मत है कि मूसाको ईश्वरने १० आज्ञाओंका ज्ञान दिया था और यही आज्ञाएं यहूदी लोगोंके नीति संग्रहमें केन्द्र स्थान में रही हैं। इन आज्ञाओंका ईसाई लोगोंने भी स्वीकार किया है इस लिये उनका यहां उल्लेख करना उपयोगी है। इन आज्ञाओंमें से पहली ईश्वरकी सर्वोपरितापर भार रखती है। "मुझसे अन्य देवको तू मतमान"। इस आज्ञासे दूसरी तीसरी और चौथी आज्ञाएं संकलित हैं। "ऊपरस्वर्गमें या नीचे पृथ्वी पर या पृथ्वी के नीचे पाताल्म रखा हुई कोई खुदी हुई मूर्ति या किसी भी वस्तुकी तस्वीर तू अपने लिये मत बना, तूउसको नमन मतकर, उसकी पूजामतकर"। "किसी बेकार चीजकेलिये तूतेरे प्रभुसे प्रार्थनामतकर। आराम का दिन पवित्रतासे बिताना याद रख तू छः दिन काम कर और उन्हीं दिनोंमें अपना सब काम खत्म-कर परन्तु सातवेंदिन तेरे प्रभुने आरामके लिये बनायाहै, उस दिन तू या तेरा लडका या तेरी लडकी तेरा नौकर या तेरी नौकरनी, तेरी मवेशी या तेरे मकान पर आयाहुआ कोई भी शख्स किसी प्रकार का कोई भी काम न करे" बाकी छः आज्ञाएं विशेष करके मनुष्योंके आपसके संबंधोंके विषयेंमें है। "तेरे पिता और तेरी माताको मानदे। तूहिंसामतकर। तूपरस्त्री गमन मतकर।

तूचोरीमतकर । तू झूठी गावाहीमतदे । तू तेरे पडोसीके घरकी अपेक्षा मतकर । तूतेरे पडोसीकी औरत की या उसके नौकर की या उसके नौकरनी की या उसके बैलकी या उसके गधेकी याउसकी किसी भी चीजकी अपेक्षा मतकर ।"

आधुनिक समयमें यहूदियोंके जीवनका आदर्श ईसाइयोंके जीवनके आदर्शसे लगभग मिलता हुवा है। वह आदर्श ईश्वरके साथ एकता साधकर आनंद प्राप्त करना है । "तेरे प्रभुको सच्चे अंतःकरणसे, सच्चे दिलसे, सच्चे जिगरसे प्यारकर"। "तेरे पड़ोसी को वैसा प्यार कर जैसा तू अपने तईं करता है।" ऐसे वचन यहूदी लेखोंमें मिलते हैं। परंतु यह तो हम शायदही कह सकेंगे कि इन वाक्योंके अंतर्गत भावनाओंका भलीभांति पालन हुआहो । इसका मुख्य कारण यह है कि इन सरल नियमोंकी अपेक्षा धार्मिक आचार धार्मिक क्रिया और खाने पीने और कपडे लत्ते और दैनिक जीवन की छोटीसे छोटी बातों के संबंधमें दिये हुए कुछ धर्म के नियम अधिक बलवान् होगये । इस बातका एक उदाहरण मिलता है कि किसी स्त्रीने आराम के दिन (रविवारको) लकडियां इकट्ठी कीं, जिसका नतीजा यह हुआकि पत्थर मार मार कर उसके प्राण लेलिये क्यों कि उसने चौथी आज्ञाका उलंघन कियाथा । एक और मौके पर यह घटना हुई कि मक्काबी लोगों में के बहुतसारोंने युद्ध क्षेत्रमें किसी कारण दुश्मन का सामना न करते हुए आपने प्राणदिये; कारण यह था कि जिसदिन उनपर हमला कियागया वह आरामका

दिन था, और आराम के दिन युद्ध करना ठीक नहीं था, क्योंकि युद्ध करनाभी एक तरह का कामही है। इस प्रकारके बाह्याचारके सामने प्रत्याघातके रूपमें ही जीसस (ईसा) का धर्मोपदेश बहुत अंशमें नैतिक महत्व रखता है। खास करके आराम के दिन के संबंध में उपस्थित होनेवाले इस प्रश्नके विषय में उसने उसके विरोधियों से पूछा कि "कहोभाई, आराम के दिन जीवन का रक्षण करना अच्छा है या उसका (लापरवाही से) नाश होने देना?

ईसाइ मज़हबमें ईश्वर पिता है और मनुष्यमात्र उस महान पिताके बच्चे हैं, यानी सब एक पिताके बच्चे हैं। नैतिक जीवन कैसा होना चाहिये इस विषयकी व्यवस्था इस सूत्रके अवलंबनपर रही है। अपने बच्चोंकी ओर मां बापके प्यार में और भाई बहनों के आपसके प्यार में जो कोमलता और स्नेहलुता रही है वही सहृदयताका ज्ञान परम श्रेय वस्तुकी प्राप्तिमें होता है। मां बाप और भाई बहनों के पवित्र प्रेम के झरनों में से अन्य स्नेही संबंधी और सहवासियों प्रति कोमल भावोंकी उत्पत्ति होती है। जिनकी ओर हमारा ऐसा शुद्ध प्रेम होता है उनको यथाशक्ति सहायता देने के लिये हम उद्यत रहते हैं। ऐसा प्रेम हमें सब मनुष्योंके प्रति रखना चाहिये अर्थात् जो लोग हमारे परिचय में आवें उनका जितना बन सके उतना श्रेय करने में यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये। इस लिये दूसरोंके उपयोगी होने के लिये हमें स्वयं ऐसे प्रसंगों की खोज में रहना चाहिये। एकाएक (अकस्मात्) ऐसे प्रसंग आजाएं तब तक

राह देखकर निश्चित बैठे रहना ठीक नहीं है। धर्म, कौम, वर्ण, वगैरे किसी तरहके भेद का ख्याल इस काम में नहीं लाना चाहिये। जिस तरह मां बाप अपने बच्चोंको उनके दोष के लिये सजा देनेकी ओर नहीं लेकिन उनके सुधारकी ओर प्रथम ध्यान देते हैं, इसी तरह पापी मनुष्य दोष युक्त हों और दंड के पात्र हों तोभी उनको पापसे मुक्त करने के लिये हमें प्रयत्न करना चाहिये। इससे समझ लिया जायगा कि अच्छे और परोपकारी कार्य करना हमारा पहला कर्तव्य है ऐसा ईसाई नीतिका उपदेश है। अच्छे उद्देशोंको सफल करना पापके नाश करने से अधिक आवश्यक है। पापसे दूर रहना और दुःखसे मुक्त होना इनकी अपेक्षा अच्छे विचार, अच्छे वचन, अच्छे कार्य और अच्छे भावोंपर अधिक भार दिया गया है। प्रत्येक वृत्तिको दबाने की आवश्यकता नहीं है। उनमें से कई अच्छी होती हैं। ऐसी अच्छी वृत्तियों का पोषण करना दोष नहीं है। स्टोइक नीति और त्यागी उदासीन वृत्तिकी प्राचीन भावनाओंका अनुसरण करनेवाले नीतिके अन्य मार्गोंसे इस खास विषयमें ईसाई नीति भिन्न पडती है। ईसाइ नीति के अनुसार कोई भी मनुष्य या कोईभी वस्तुके प्रति हमारा अमर्यादित प्रेम होना असंभव है; अर्थात् किसी मनुष्य या वस्तुकी ओर हम जितना प्रेम रखना चाहते हैं उतनाही रहता है। किसी खास मनुष्यसे अधिक प्रेम रखना दोष नहीं है परन्तु ऐसा करने में अन्यलोगोंकी ओर प्रेम न रखना दोष है। इस

नीतिकी मर्यादा बहुत विशाल रक्खी गई है। जो वस्तुएं स्वभाव से ही दुष्टहोती हैं उनको छोडकर और सब वस्तुओंका उसमें समावेश किया गया है। शरीर आत्माके रहने के लिये भवन है इस लिये शारीरिक, सांसारिक या नैतिक सुख भोगना दोष युक्त नहीं है। अलबत्ता भौतिक सुखकी अपेक्षा आध्यात्मिक सुखका विशेष महत्त्व है तो भी भौतिक सुख भोगनेमें दोष नहीं है। शरीरको आत्माके आधीन करने के लिये अतिशय देह दमन और शोषण ईसाइयोंमें केवल अपवाद रूप बहुत कम देखा जाता है। अन्य लोगोंकी सेवा करने में विघ्नकर हों ऐसे शारीरिक भोगोंका त्याग करना उचित है। इससे अधिक देह दमनकी ओर ईसाइयोंकी वृत्ति आधुनिक समयमें अर्थात् गत चारपांच शताब्दियोंमें नहीं देखीगई है। ईसाई नीतिकी सामाजिक भावना भी इसी प्रकारकी है। व्यक्तित्व से आगे बढकर परम तत्वमें लीन होकर व्यक्तिका लय करने के लिये प्रत्येक मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिये ऐसा ईसाई मज़हबका आदर्श नहीं है। इस मज़हबका आदर्श सर्वथा सामाजिक है। हमें ईश्वरके साम्राज्यका स्थापन करना है। जिस तरह पृथ्वीकी राज्य संस्थाओंमें प्रत्येक मनुष्यके अच्छे बुरे कृत्योंका सारी संस्थापर असर होता है उसी तरह ईश्वरके साम्राज्यमें भी प्रत्येक नागरिक के कृत्यों का असर सारे साम्राज्यपर होता है। सारे समाज का हित साधे विना स्वयं हमारा हित नहीं साधा जा सकता है। जीसस ने कहा है कि " अपने

जीवन को बचाने की कोशिश करनेवाला अपना जीवन गंवायगा और मेरे निमित्त अपने जीवन के भोगदेने वाले का जीवन सफल होगा (मैथ्यू १० ३९)। अर्थात् अपना स्वार्थ साधने की भावना मनुष्य को मनमें भी नहीं रखनी चाहिये। सामाजिक दृष्टिसे इस उपदेशका शिक्षण यह है कि मनुष्य कैसी भी तुच्छ या अधम स्थिति में क्यों न हो उसका आत्मा प्रभुके साम्राज्य का एक अमूल्य अंग है। "मेरेमें श्रद्धा रखने वाले छोटे से छोटे प्राणीके दिल कोभी जो मनुष्य रंज पहुंचाता है उसके गलेमें पत्थर बांधकर उसको समुद्र में फैंकदेना उचित है" (मार्क ९, ४२)। छटीसे पंद्रहवीं शताब्दि तक मध्य युगमें संसार की उपाधियों को छोडकर मठोंमें एकांत जीवन बिताने की तरफ जैसे लोगों की वृत्ति हुईथी वैसेही सामान्य समाज में भी इसलोक की अपेक्षा परलोक के लिये भावना अधिक बलवान हो रही थी। इस तरह एकांत जीवन की ओर विशेष रुचि होनेके खास कारण अबतक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं होसके हैं। मठों में रहनेवाले साधु और साध्वी निरुद्यमी जीवन नहीं बिताते थे। अक्सर वे खेती करने में अथवा विद्या प्राप्त करने में अपना समय व्यतीत करतेथे। सब बातें देखनेपर उनका ऐहिक जीवन परलोकके लिये एक प्रकारकी तैयारीके तौरपर था; ऐसी सामान्य भावना उन दिनोंमें प्रचलित थी यह कहना अनुचित न होगा। धर्म में बाह्या-चारका बल बढ गया। इस स्थितिके परिणाममें वैसीही बलवान

प्रतिक्रिया हुई। हम यह कह सकते हैं कि इटलीमें प्रचलित साहित्यके उद्बोधनमें और प्रोटेस्टेंट धार्मिक सुधारमें यह प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष हुई। इटली के उद्बोधनसे ग्रीक और रोमन सर्वदेशीय साहित्य और आदर्शोंकी ओर लोगोंकी रुचि होने लगी। लोग ग्रीक और रोमन आदर्शोंको प्रमाणभूत मानने लगे। मध्ययुगकी पारलौकिक भावनाओंके स्थानमें मनुष्यकी ऐहिक उन्नतिका आदर्श जनसमाजके सन्मुख खड़ा हुआ। मनुष्यकी इस संसारमें उन्नति और उसकी शक्तियोंका विकास, यह उपदेश ध्यान देने योग्य माने गये। शरीरको बलवान् बनाना और उसके सौंदर्य को विकसित करना महत्त्व पूर्ण बात है ऐसा माना गया। सर्व प्रकार के सौंदर्यकी ओर ध्यान आकर्षित हुआ। इसके परिणाममें इटलीमें उस समय कविता, संगीत, चित्रकला और शिल्प शास्त्रका विकास हुआ। यह माना गया कि इन दिशाओंमेंही पूरा प्रयास करना और ध्यान लगाना मनुष्य के लिये उचित है। सच देखा जाय तो भविष्यके परिणामके विचार करने की अपेक्षा किसी बातका हमारे मनपर क्या असर होता है इस पर ध्यान रखना अधिक आवश्यक है। इसी दृष्टिसे हरएक चीजकी तुलना करनी चाहिये, ऐसा मत उस समयमें चलने लगा। कला कौशलकी तरफ विशेष ध्यान देना आरंभ हुआ; उसके साथ साथ स्त्री पुरुषके परस्पर संबंध के लिये सामान्य नीतिकी जो व्यवस्था प्रचलित थी वह और एकनिष्ठा व प्रामाणिकताकी व्यवस्थाभी शिथिल

होती गई। परलोकका शासन देनेवाला ज़ोर नरम हो गया और नीतिका शासन नीतिको स्थिर रख सके इतना बलवान् नहीं होने पाया।

सामान्य नीति जिस अधम स्थितिको पहुंचीथी उसके और धर्माचार्यों के दुराचार के विरुद्ध प्रोटस्टेंट लोगोंका धार्मिक सुधार एक ताड़ना रूप इस समयमें प्रचलित हुआ। लोगोंमें सच्ची धार्मिक भावना और जिज्ञासा उत्पन्न करनेका इस सुधारका खास उद्देश्य था। बाह्याचारकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता था उसके कम करने का भी इस सुधारका यत्न था। दक्षिणके अधिक उष्णप्रदेशके लोगोंके कुछ विलासी और आनन्दप्रिय विचारोंके सामने वह सुधार ठंडे प्रदेशके लोगोंका एकसख्त जवाब था ऐसा हम कह सकते हैं। यह जवाब उनके स्वभावके अनुसार सख्त और कडा है। सामान्य दुराचारों के सामने यह हलचल उपयोगी हुई; परन्तु इस हलचल में नैतिक जीवन का विशाल दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया गया था। बायबलके–विशेष आश्चर्य की बात है कि अधिक अंशमें " ओल्डटेस्टमेंट " के और विशेष रूपसे " दस आज्ञाओं " के–आदेशों का पालन करने में ही नैतिक जीवन पर्याप्त होता है ऐसा नीतिसंबंधमें इस सुधारका उपदेश है। " ईश्वर और आत्मा " " आत्मा और ईश्वर " उनकी इस भावनाका अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिके लिये ईश्वर को उत्तर देना होगा इस भावनाका

नीतिपर बड़ा उपयोगी प्रभाव पड़ा है। ईश्वर के साथ इस प्रकार के संबंधने और उसके अंग में बायबलमें दी हुई अनेक आज्ञाओंने इस सुधारमें महत्व पूर्ण भागलिया है। परिणाममें युरुप के उत्तर तरफके देशोंमें आफ्रीका और औस्ट्रेलिया के कई एक संस्थानोंमें और अमेरिकावासी लोगोंमें व्यक्ति स्वातंत्र्यकी भावना अतिशय बलवती होरही हैं। कैथलिक पंथके प्रचारके समय ऐसी भावना कभी उत्पन्न नहीं होसकतीथी। गत कुछ शताब्दियोंसे पश्चिममें व्यक्ति स्वातंत्र्यके विरुद्ध बड़ा कोलाहल मचरहा है। जो मनुष्य धर्मके विषयमें पहले अपने आत्माकाभी अधिक अंशमें विचार कियाकरे वह भौतिक बातोंमेभी अपनेही लाभालाभकी ओर दृष्टि रक्खे यह स्वाभाविकहै। विशेषमें जिस तरह यह सुधार देहदमनका पक्षपाती न था उसतरह सौंदर्यका पक्षपातीभी न था। इस जीवनमें उपयोग के जो जो साधन मिलें उनका उपयोग और उपयोग करने के विरुद्ध उसका उपदेश न था। परंतु मृत्युके पीछे के जीवनके लिये आध्यात्मिक कल्याण साधने की हरएक मनुष्यको खास जरूरत है यह बात अच्छी तरह समझाने का इस सुधारकका उपदेश था। आमतौरपर सौंदर्यका अथवा सौंदर्यकी किसी शाखा का अर्थात् किसी कलाके विकास करनेकी ओर उस समयमें ध्यान नहीं दिया जाताथा। इंग्लैंड के प्यूरिटन के नामसे मशहूर प्रोटेस्टेंट लोग इस संसारके सुखोंकेप्रति बिल्कुल उदासीन वृत्ति नहीं, तोभी स्टोइक लोगों कीसी वृत्ति रखने का उपदेश करते थे, ऐसा

कहा जाय तो अनुचित नहीं है। भक्तिमें सौंदर्यका भावभी बढावें ऐसे शोभा के साधन उनके गिरजाघरोंमें नहीं देखे जाते हैं।

ईसाई मज़हबकी भिन्न भिन्न शाखाओंमें से किसीसे सीधा ताल्लुक नहीं रखनेवाले तत्त्वज्ञलोग नीतिके प्रश्नों और जीवनके आदर्श के संबंधमें विवेचन करनेके लिये अब आगे आये। हौब्ज़ अपने ग्रंथोंमें व्यक्ति स्वातंत्र्यको हदसे बाहर लेगया। प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थके लिये ही श्रम करता है। सुख सत्ता और स्वातंत्र्य के लिये हरएक आदमी कोशिश करता है। इन तीन वस्तुओंके अतिरिक्त दुनियामें और कोई वस्तु स्पृहणीय नहीं है। इस प्रकार का मत हौब्ज़ने प्रचलित किया। उसने अपने जडवादी तत्व ज्ञान के आधार पर निश्चित किया कि समाज व्यक्तियोंकी इच्छाकी भली भांति तृप्ति करने के लिये निश्चित रूपसे स्वीकृत किया हुआ साधन है। श्रेय वस्तु सुख आनंद में रही है इस मत-लबकी पद्धति एक या दूसरे रूपमें स्पष्ट या गर्भित रीतिसे पश्चिम में सर्वदा स्वीकृत हुई है ऐसा हमें मानना होगा।

अमुक एकही संज्ञासे नैतिक जीवन का आदर्श समझाने का प्रयत्न वर्तमान समय में हुआहै। सुखकी प्राप्ति और दुःख का त्याग यही नीतिका परम उद्देश्य है, इस सिद्धांत वाली नैतिक पद्धति को पश्चिम में अच्छी सहानुभूति मिली है। इस पद्धति के विरुद्ध दो मुख्य अपवाद हैं। किसके सुखकी वृद्धि करने का हमारा उद्देश्य होना चाहिये? कोई लोग ऐसा उत्तर

देते हैं कि हरएक आदमी को अधिक तर अपने ही सुखकी वृद्धि में उद्यत रहना चाहिये; परन्तु बहुतसे विचारकों का यह मत है कि अन्य लोगोंके सुखका भी खयाल रखकर हर मौके पर अधिकसे अधिक सुख प्राप्तहो इस प्रकार का हमारा वर्तन होना चाहिये। यदि यह पिछलामत स्वीकृत करें तो मनुष्यको दूसरों के सुख के लिये किन संयोगों में अपने सुखका भोगदेना चाहिये? और मनुष्यको ऐसा भोग नैतिक दृष्टिसे क्यों देना चाहिये? यह दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। नीति संबंधी किसी भी वादका हम स्वीकार करें तो भी कोई भी कृत्य करते समय हम अमुक प्रकारकी गणना करते हैं यह बाततो निर्विवाद है। इस लिये हर मौकेपर अलग अलग बर्त्ताव रखने से कितना सुख मिल सकता है इस बातका निश्चय करना कठिन तो अवश्य है, तथापि ऐसी गणना करना असंभव नहीं। प्रत्येक व्यक्तिका हित और अखिल समाज का हित भिन्न भिन्न दिशाओंमें न होते हुए एकही दिशामेंहै इस लिये अनेक योजनाएं घडी गई हैं। दृष्टान्त में समाज को हितकर हों ऐसे कृत्य करने वालों को इनाम खिताब और मान मिले और समाज को नुकसान पहुंचाने वाले कृत्य करने वालों को सजादी जाय ऐसे कानून जारी होने से अलबत्ता इस दिशामें कुछ हो सकता है। लेकिन इसका असर होने के लिये कानून की सजा और कदरदानी ऐसी भारी होनी चाहिये कि उनके विरुद्ध बर्ताव रखना प्रत्येक मनुष्य के लिये स्वार्थ दृष्टिसे हानि करहो

इस वात में कानून उपयोगी हो सकता है, और सच देख जायतो उपयोगी हुआभी है; तथापि उसका अच्छा प्रभाव बहुत मर्यादित है। प्रारंभ सेही समाज के हितको किसी कदर रक्षण मिलता है। दुष्ट मनुष्य प्रारंभ से ही समाज को नुक्सान करने से रुकजाता है और बीर पुरुष अथवा परोपकारी नर लोक मतसे उत्तेजित होकर समाजसेवामें उद्यत होता है यह निर्विवाद है।

सुख भिन्न भिन्न प्रकार का होता है ऐसा मानने से उनकी पद्धति में जो विरोध मालूम होता है उसका खुलासा सुखवादी लोग नहीं कर सकते हैं। यह इस पद्धतिमें दूसरी कठिनाई है। सच्च देखें तो उनके मतानुसार अधिक से अधिक सुख मिला कि बस हुआ। वह सुख किस प्रकार किन साधनों द्वारा मिलता है इस बातको देखनेकी नैतिक दृष्टिसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती है। तथापि जो विचारक लोग इस पद्धतिके पक्षपाती थे वे और अन्य सर्व विचारक लोगभी यह स्पष्ट प्रत्यक्ष कर सकते हैं कि इस मतका स्वीकार किया जाय तो फिर नीति और अनीतिके बीच किसी प्रकारका अंतर रहेगा ही नहीं। इस कठिनाई को दूर करने के लिये यह मान लिया जाय कि एक प्रकार का सुख दूसरे प्रकार के सुखसे बढ़कर है, तो फिर सुख के भिन्न भिन्न प्रकारों और भेदों के वर्गीकरण के लिये किसी एक पद्धति अथवा तुलनाकी आवश्यकता रहेगी। कौनसा सुख ऊंचा और कौनसा सुख नीचा, इसका निश्चय किस तरह हो? इस प्रश्नके उत्तरमें वे लोग कहते

हैं कि अमुक प्रामाणिक मनुष्य जिसने सर्व प्रकारके सुखका अनुभव किया हो वह जो निर्णय करे उस निर्णय को ठीक समझना चाहिये। उनका यहभी कथन है कि ज्ञानियोंके अभिप्राय के अतिरिक्त लोकमत निश्चित करनेसेभी यह कठिनाई दूर हो सकती है।

सुखवादकी पद्धतिमें जो जो कमी मालूम हुई उनको किसी कदर दूर करनेमें उत्क्रांतिवाद सफल हुआ। उत्क्रांतिवादका अर्थ यह है कि क्रमसे उच्च पंक्तिपर हम चढ सकते हैं। इस वादके अनुयायियोंमें हर्बर्ट स्पेन्सर आदि तत्त्वज्ञानी लोग थे। उनका कहना है कि जो जो वस्तुएं सुख देनेवाली हों वे जीवनके उपयोगी और जीवन की वृद्धि करनेवाली होती हैं। जब सुख उत्पन्न होता है तब उन के मतानुसार यह समझ लेना चाहिये कि शरीरकी क्रिया परिस्थितिके अनुकूल है; और जब दुःख उत्पन्न हो तब समझ लेना चाहिये कि शरीरकी क्रिया परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। देह धर्मविद्यासे सुखका इस प्रकारका संबंध है ऐसा उत्क्रांतिवादका मत है। जहां जहां प्रत्यक्ष रीतिसे शरीरकी क्रियाएं और परिस्थिति, व्यक्तियां और समाज, इन द्वंद्वोंका संबंध अनुकूल न हो वहां वहां उत्क्रांतिवाद कहता है कि कालकी गतिसे अनुकूलता हो जावेगी। जीवन जैसे अधिकाधिक उत्क्रांत होता जाता है वैसे एक मनुष्य का सुख बहुतसे मनुष्योंके सुख के साथ अधिक और अधिक अनुकूल होता जाता है, और वर्त्तमान क्षणिक सुख भविष्यके स्थायी सुखसे अधिक अनुकूल होता है।

नीतिका कड़ा और अव्यक्त दृष्टिसे विवेचन कैंट के नीति शास्त्रमें बहुत सफल रीतिसे किया गया है। उसने नीतिसे सुखको बिल्कुल अलग करके दोनोंमें कुछ संबंध नहीं है एसा बतानेका प्रयत्न किया है। सुख प्राप्तिके लिये हमारी स्वाभाविक वृत्ति है। यह ठीक है, परंतु उस प्राप्तिमें कोई नीति गौरव नहीं है। हमारे कर्त्तव्यका पालन करनेमें नीति रही है। कर्त्तव्य परायणता अथवा सद्गुणमें एक प्रकारका गौरव है। अभी या आगे सुख मिले इस लिये हम कर्त्तव्य परायण नहीं हो सकते। कर्तव्य में किन बातोंका समावेश होता है यह कैंटने स्पष्ट रूपसे नहीं दिखलाया है। बुद्धि के आदेशोंके अनुसार वर्तन रखनेसे कर्त्तव्यसिद्ध हो सकता है। ईश्वरके साम्राज्यमें प्रत्येक जीवात्माकी समान आवश्यकता और उपयोगिता है, इस प्रोटेस्टंट सिद्धांतपर कैंट के नीतिशास्त्रमें भी भारदिया गया है। उसके मतके अनुसार किसी मनुष्यका साधनके तौरपर उपयोग करना ठीक नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विश्वका एक बहुमूल्य अंग है, और इसलिये वह साधन रूपनहीं परंतु अंतिम उद्देश्य रूप गिना जाना चाहिये; नैतिक उन्नतिको पहुंचेहुए मनुष्य साम्राज्य सृष्टिका आदर्श होना चाहिये और इसदिशा में मृत्युके पीछे के जीवनमेंभी प्रगति करके उत्कर्ष प्राप्त होसकताहै ऐसा वह मानताथा। आत्मोन्नतिके इस आदर्शमें सत्य, परोपकार आदि सद्गुणोंकाभी समावेश किया गया है। कैंटभी स्टोइक लोगोंकी तरह मानता था कि सद्गुणी मनुष्य को ही सच्चा सुख मिलता है और आत्मोन्नति

की सीमातक पहुंचने से परम सुख अपने आप अंतमें अवश्य मिलता है।

पश्चिम के आधुनिक नीतिशास्त्र के व्यवस्थित विवेचनों में तत्व ज्ञानियोंके ग्रंथों में और साधारण मनुष्यकी कल्पना में समान रीतिसे पश्चिम का आधुनिक नीतिशास्त्र यह तो स्वीकार करता है कि नीतिकी दृष्टिसे अच्छा क्या और बुरा क्या इस बातका निर्णय करने की शक्ति मनुष्य में जन्मसेही रहती है। इस शक्तिको 'अतःकरण' या 'चिद्वृत्ति' कहते हैं। अंतःकरण बुद्धिका रूपहै या भावोंका इस संबंध में तत्वज्ञों में दो मत हैं। इस प्रश्न के संबंध में स्पष्ट निर्णय करने की यहां आवश्यकता नहीं है। यह संज्ञा बटलर नामके नीति शास्त्रज्ञने इंग्लैंड में प्रचलित की। वह कहता है कि अंतःकरण के आदेश सत्तात्मक होते हैं। कोई कृत्य अच्छा होया बुरा इस बात के निर्णय का आधार रुचि या अरुचिपर नहीं है। नीति के आदर्शोंका खास लक्षण यह है कि उन आदर्शों के अनुसार वर्तन रखना चाहिये, ऐसा नीति शास्त्र के उन आदेशों से सहज समझा जाता है बटलर और पश्चिम के अन्य विचारक लोग इसका कारण यह बताते हैं कि हमारे स्वभाव में अंतःकरण ईश्वराज्ञा की प्रेरणा करने वाली शक्ति है। हमारा अंतःकरण अच्छे बुरे का भेद दिखलाता है। वास्तव में हमारी वृत्तियोंपर वह शासन और आज्ञारूप है। औरोंके लिये प्रेम अर्थात् परार्थ वृत्ति एवं स्वयं अपने लिये प्रेम

अर्थात् स्वार्थ वृत्ति ऐसे दो प्रकार के भाव मनुष्य के अंतःकरण में होते हैं। दोनों प्रकार के भावों का पोषण करना हमारा कर्तव्य है। बटलर का कथन है कि दुराचार का मूल स्वयं अपने को अधिक चाहने से नहीं परंतु अपना सच्चा स्वार्थ किस बातमें हैं यह नहीं समझने से होता है। सच्चा स्वार्थ बुद्धि पूर्वक स्वार्थ वृत्तिका अनुसरण करने में रहाहै इस के उपरांत मनुष्य स्वभाव में कई एक निःस्वार्थी भाव भी होते हैं, जैसे कि सच बोलने की निःस्वार्थी इच्छा। सचबोलने की निःस्वार्थी इच्छा में स्वार्थ और परार्थ इन दोनों में से एक की भी तरफ वृत्ति नहीं रखते हुए केवल सच बोलने ही के लिये जो इच्छा मनुष्य स्वभाव में देखी जाती है उसी को सच्चा निःस्वार्थीभाव कहसकते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम देशों के विचारकों का ध्यान संपत्ति के सामान्य स्वामित्व के प्रश्नकी चर्चामें लगाहुआ था। सामान्य स्वामित्व व्यवहार में लाना इष्ट है या नहीं इस बातका निश्चय करने में देशके नेतालोग उस समय लगरहे थे। कई विचारकों ने इस योजना की हंसी करके उस का खंडन करने का यत्न किया, औरोंने मजबूत दलीलों से उसका समर्थन किया। इस मत को व्यवहार में लानेका प्रश्न खास कर के अर्थ शास्त्र तथा नीति शास्त्रसे अतिगाढ संबंध रखता है। तथापि उस का मूल नीति शास्त्र परहै, इसलिये इस विषय में यहां विवेचन करना उचित है। 'सामान्य स्वामित्व' इस नामसे जो अर्थ सूचित होता है वह उस

मतका उद्देश्य नहीं है। समाजको प्रवृत्तिका केंद्रस्थान देना यह नहीं परंतु समाज के प्रत्येक अंग अर्थात् मनुष्यके हितकी सिद्धिहो ऐसी योजना व्यवहारमेंलाना यह सामान्य स्वामित्वके उपदेशकोंका उद्देश्य है। उनका मत है कि प्रत्येक व्यक्तिको समाज के हित के लिये श्रम करना चाहिये, और प्रत्येक मनुष्य के श्रमसे जो सम्पत्ति उत्पन्न हो उस पर सारे समाज का अधिकार होना चाहिये और उस का लाभ सारे समाज को मिले ऐसी उसकी बटौती होनी चाहिए। आरंभमें उसमत के अनुयायिओंने श्रमजीवियोंका पक्ष लेकर उनके उद्योगसे उत्पन्न होनेवाली संपत्तिका जो हिस्सा उनको मिलता था उस से अधिक उन को मिलना चाहिये ऐसा विरोध उठाया था। इसपर से इस मत को कोई लोग जडवाद की तरफ झुकनेवाला अर्थात् शारीरिक भोग की स्पृहा करनेवाला मानते हैं। यह सच है कि इस मत के कुछ अनुयायी लोग जडवादी थे पर तोभी इसमत का उसवाद से कोई सीधा संबंध नहीं है। इस मत के अनुयायियों का यह सिद्धांत था कि शारीरिक और अन्यश्रय करनेवाली वस्तुओं में से सब को पूरा हिस्सा मिलना चाहिये।

फ्रान्सदेशवासी औगस्टस् कौमृत के नाम से विख्यात आधिभौतिक तत्त्ववाद नाम के मतमेंभी सामान्य स्वामित्ववाद से मिलती हुई नीति का उपदेश किया है। कौम्त के शिक्षणका मतलब यह था कि मनुष्य जाति की उन्नति नीतिका उद्देश्य है। इस संसार में सुखसे व्यतीत होसके ऐसे आदर्श जीवन के लिये मनुष्य को इच्छा

रखनी चाहिये। इस संसारसे परे ऐसी कोईभी वस्तु हमारे लिये बेकार है। अध्यात्म विद्याकी कल्पनाओं में और हवे दानव परलोक आदि वहमों से भरे हुए धर्म की बातों में अपनी शक्तियों का व्यय करना मनुष्य के लिये ठीक नहीं। इतना तो कहना पडेगा कि परलोक में आस्था नहीं रखने वाले लोगों के लिये मनुष्य जातिका उद्धार एकस्तुत्य अंतिम उद्देश्य है, यह स्पष्ट रीतिसे दिखलाने का मान इस वाद को देना उचित है।

सौंदर्य को जीवन का आदर्श और अंतिम हेतु मानकर जीवन बिताने का यत्न पश्चिमके कुछ लोगोंने उन्नीसवीं शताब्दी में कियाथा वे मानते थे कि सौंदर्य का विकास और सौंदर्य के भावको संतुष्ट कर सके ऐसी प्रत्येक कृति और प्रत्येक कृत्य स्तुत्य है। इटली में साहित्य का उद्बोधन हुआ उस समय में जैसे नीति की पद्धति ढीली होगई वैसे ही सामान्य जन समाजकी नीति अधम होने लगीथी परंतु उन्नीसवीं शताब्दी में इस मतका अधिक प्रभाव न रहा वह मर्यादित रहा और उसका प्रचार न होसका। उस शताब्दि में सुविख्यात निराशा वादी शोपनहौर ने कला और सौंदर्य की स्तुति बडी विद्वत्तासे की थी। शोपेनहौर को जीवनकी सब वस्तुएं स्पष्ट रूपसे अनिष्ट मालूम हुई। उसने केवल संगीत में ही कुछ शांतिका स्थान देखा। इस जगह यह भी कहना उचित है कि 'समभाव' की वृत्ति से कुछ शांति मिलसकती है, इस मतलब का उसका उपदेश था,

और 'समभाव' उसके नीतिशास्त्र में मुख्य सद्गुण था इस प्रकार के विचार के प्रचार के विरुद्ध पश्चिममें नीज़का शिक्षण उपस्थित हुआ ।

नीज़ नेभी सौंदर्य की भावना पर खास भार रक्खाथा, यद्यपि इस विषय में वह शोपेनहौर से सहमतथा, तथापि साधु जीवन किस प्रकारका होना चाहिये, इस विषयमें उसका मत शोपेनहौर के मतसे जुदा पडताथा । उपर जैसे हमने कहाहै शोपेनहौरके निराशावाद के सामने प्रतिध्वनिरूप में उसके मतका उद्भव हुआ था । शोपनेहौर के मतमें नीतिकी जड़ "समभाव" अथवा "दया" पर स्थित है। नीज़ने इसमतके विरुद्ध प्रतिघोष कियाथा । वह प्रति-घोष यह था कि इस प्रकारका "समभाव" मनुष्यको निर्माल्य बना देता है । नीज़के मतानुसार जीवनका उद्देश्य यह होना चाहिये कि मनुष्य मनुष्यत्वसे आगे बढे । जिस प्रकार वह अधम प्राणियोंसे अधिक उत्क्रांत हुआ है उसी प्रकार मनुष्यत्वसेभी अधिक उत्क्रांत होना जीवनका सच्चा आदर्श है। मनुष्यसे निम्नश्रेणीके प्राणियोंकी उत्क्रांति विशेष करके शारीरिक बलकी दशामें हुई है; इसलिये नीज़के मतमें बलकी या सत्ताकी प्राप्तिकरना उत्तम वस्तु है । कुछ अंशमें शारी-रिक बलको इस प्रकार आदर्श मानने में नीजने अपने अनुभवका सहारा लियाथा; क्योंकि वह खुद शारीरिक रोगसे और निर्बलतासे तंग आगयाथा । जगत्का सामान्य अनुभव है कि हम में जिस-शक्तिका अभावहो उसको हम पूजनीय मानते हैं; और इसीकारण

नीत्शेके लिये शारीरिक बल पूजनीय था। परंतु नीज़के मतका न्याय बुद्धिसे विचार कियाजाय तो कहना पड़ेगा कि अंतमें उसने यह प्रतिपालन कियाथा कि हम उच्चतर मनुष्यहोनेका यत्न करें, अर्थात् बलवत्तर होनेका प्रयत्न करें, उच्चतर मनुष्यको सत्ता प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना इसका यह अर्थ है कि ऐसी शक्ति अपने में होने के कारण वह मनुष्य अपनेसे अधिक निर्बल मनुष्योंकी ओर प्रेम दिखला सके। नीज़ के इन विचारोंका असर सामान्य लोगोंपर यह हुआ कि व्यक्तित्व पर अधिक भार रक्खा गया और सत्ताप्राप्ति का हेतु विग्रह भी नैतिक दृष्टिसे उपयोगी समझा जानेलगा। जर्मन बादशाहकी राजकीय नीतिमें भी " सत्ताके सामर्थ्य का समर्थन " का नीज़ का यह सिद्धांत एक बड़ा भागरखता है।

कैन्टके पीछेके समय में ऊपर प्रदर्शित की हुई पद्धतियों में मनुष्य की प्रवृत्तिओं के एकाध क्षेत्रको अलग कर के उसपर विशेष भार रक्का था। दूसरी ओर कुछ अन्य तत्ववेत्ताओंने जीवन के आदर्श का अधिक गूढ और सम्पूर्ण विस्तारसे अभ्यास किया था। कैन्टने सूचित किया था कि यदि प्रत्येक व्यक्ति नीति का अंतिम हेतु समझाजाय तो अपनी पद्धति में बाह्याचार का जो दोष दीखताथा वह दोष नैतिक पद्धति में न रहे। कैन्टके पीछे की कुछ पद्धतिओं में व्यक्तित्व का विकास जीवनका आदर्श माना गया है, बुद्धि और ऐसी अन्य भिन्नभिन्न शक्तियों के विकास से और सत्यशील, परोपकार, उद्योग आदि सद्गुणों की प्राप्ति से आत्मोन्नति का आदर्श

फली भूत किया जासकता है। जबतक मनुष्य अपने चारित्र्य से पूज्यभाव और प्रशंसा का पात्र न हो तबतक उसका जीवन निरर्थक है। परंतु जन समाज के समूह से व्यक्तिको बिल्कुल अलग रखना असंभव है; इसलिये आत्मोन्नति का समाज की उन्नति से गाढ संबंध है। हेगल नामी जर्मन तत्वज्ञानीने इस रहस्य को समझ लिया। उसका उपदेश था कि कुटुम्ब, संस्था, और धर्म समाज इनतीन समूहों का प्रत्येक व्यक्ति एक अंग है; इनतीनों समूहों पर प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व का प्रभाव पडता है। यह बहुत आवश्यक बात है कि श्रेष्ठ चारित्र्य नीति के आधारपर रचाजाना चाहिये। वास्तविक परिस्थिति इस प्रकार की होनेके कारण व्यक्ति की नैतिक दृष्टिसे उन्नति और आदर्श माने गये हैं ऐसा ऊपर के विवेचनसे प्रतीत होता है, तथापि मुख्य प्रश्न तो यह है कि नैतिक जीवन किसप्रकार का होना चाहिये। व्यक्तित्व की उन्नति के आदर्श संबंधी बिचार करते प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसआदर्श में किन किन बातों का समावेश होता है ऐसी व्यक्तिके लिये किस प्रकार का कुटुंब और किस प्रकारकी राज्यसंस्था अभीष्ट है इस बातका प्रथम निर्णय किये विना इस प्रश्नका उत्तर नहीं दिया जासकता है यह सुव्यक्त है।

यद्यपि पश्चिम के तत्वज्ञ लोग मनुष्य में 'अंतःकरण' होने का अबतक स्वीकार करते हैं तथापि उत्क्रान्ति वादके प्रचार से उस मतका कुछ अंश में रूपांतर हुआ है। अच्छा क्या और बुरा क्या

इस संबंध में प्रत्येक मनुष्य का अभिप्राय एकसा नहीं होता है। एकही मनुष्य एक समय इस संबंध में एक प्रकार का अभिप्राय प्रदर्शित करता है, और दूसरे समय वही मनुष्य उसी संबंध में विपरीत अभिप्राय रखता है। अच्छा क्या और बुरा क्या इस विषय में सभ्य समाज का अभिप्राय असभ्य और अज्ञान समाज के अभिप्राय से भिन्न होता है। नैतिक जीवन में समय की प्रगति के साथ अमुक प्रगति देखी जाती है। अच्छा क्या और बुरा क्या इस संबंधी विवेक बुद्धि का भी विकास होता मालूम पडता है। साधु पुरुष को साधारण मनुष्य की अपेक्षा अच्छे बुरे के भेद का अधिक ज्ञान होता है। जिन महात्माओं की ओर समाज पूज्य भाव रखता आया हो और अबभी रखता हो उनके ग्रंथों से और उनके वचनों से अच्छे बुरे को पहचानने की हमारी शक्तिको हम विकसित करसकते हैं। उनके उपदेशों के अनुसार वर्ताव रखने से उन उपदेशों के गौरव का हम अपने जीवन क्रम में अनुभव करते हैं। उन महात्माओं के उपदेश, समाज के रीति रिवाज के अभ्यास और हमारे जाति अनुभव से हमनिर्णय कर सकते हैं कि अमुक प्रकार का जीवन मनुष्य के लिये उत्तम प्रकार का कहा जासकता है।

नैतिक जीवन किस प्रकार का होना चाहिये, इस संबंध में पश्चिम में आजकल जो मत सामान्य रीतिसे प्रचलित है उनका संक्षिप्त-सार हम नीचे देते हैं। अबतक जिन जिन सद्गुणोंके नाम भिन्न भिन्न स्थलों पर दिये गये हैं, वे सब साधुजीवन के लिये आव-

श्यक हैं। इन सद्गुणों के द्वारा हमारा चारित्र्य समाज में प्रकट होता है। मनुष्य का चारित्र्य ही सबसे अधिक महत्व की वस्तु है। हमारे प्रत्येक हेतु को सामाजिक दृष्टिसे समझने का आजकल प्रयत्न होता है। वर्तमान समयकी भिन्न भिन्न हलचलें सूचित करती हैं कि भौतिक श्रेय, शारीरिक अरोग्य, रहने के मकानों का सुघड़पन इत्यादि भौतिक उन्नति के साधनों की वृद्धि और उनके विकासकी ओर प्रयास करना हमें उचित है। सौंदर्य की भावना का जीवन में विस्मरण नहीं हुअ है। साधुजीवन बिताने वाले को सौंदर्य की वृद्धि और विरूपता का नाश करने के लिये जितना बन सके प्रयास करना उचित है। और मनुष्यों की आत्मोन्नति साधने में हम उपयोगी होसकें इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त करने का भी हमें यत्न करना चाहिये। 'कर्तव्य' में एक प्रकार का दबाव रहा हुआ है, अर्थात् जो हमारा कर्तव्य है उसको हमें करनाही चाहिये यह हमारा फर्ज है। हमें यह विचार करना उचित नहीं कि "कर्तव्य" हमारी वासनाओं से प्रतिकूल है या क्यों कर। इस परसे यह नहीं समझना चाहिये कि पश्चिम में सुखवाद का बिल्कुल बहिष्कार हुआ है। किसी अन्य उद्देश्य या हेतुका भोग दिये बिना सुख प्राप्ति या दुःख नाश के लिये प्रयास करना हमारा धर्म है। मनुष्य अपना कर्तव्य किये जाय, कर्तव्य परायणता में उसको आनंद मिले, और जिन कृत्यों से कर्तव्य भ्रष्ट होने का प्रसंग आवे उन कृत्यों की ओर स्वतः धिक्कार वृत्तिका

उद्भवहो तब हम कह सकते हैं कि उसने जीवन का आदर्श सिद्ध किया है अर्थात् वह मनुष्य एक उत्तम श्रेणी का मनुष्य हुआ हैं। नैतिक जीवन का आदर्श अमुक एक श्रेय वस्तुकी प्राप्ति में नहीं परंतु अनेक श्रेय वस्तुओंकी प्राप्ति में है। इस पुस्तक के 'नैतिक जीवन' शीर्षक वाले भाग में भिन्न भिन्न श्रेय वस्तुएं कौनसी हैं इस विषय पर विस्तार पूर्वक विवेचन किया जायगा।

दूसरा प्रकरण

हिंदू नीतिशास्त्र

भारत में नीतिशास्त्रः—नीतिके प्रश्न निश्चित करने के लिये बुद्धिद्वारा पृथक्करण होनाचाहिये या हृदय भावों अथवा अंतर्ज्ञान द्वारा इस संबंधमें पाश्चिमके फिलसुफोंमें ऐक मत्य नहीं है। जो लोग इस विषयको विज्ञान की तरह बुद्धिगम्य कहते हैं वे उसको शास्त्र अथवा विज्ञानकी एकशाखा मानते हैं ऐसा न मानने वा उसको अभ्यासका एक विषय गिनते हैं; विज्ञानकी शाखा (शास्त्र) नहीं। विचारकोंका बड़ा भाग इसको विज्ञानवत् मानते हैं, इसलिये पाश्चिममें नीतिको बुद्धिके कोई दो एक दृष्टि बिन्दुओं से समर्थित करनेका प्रयत्न किया जाता है। इस कारण हम देखते हैं कि वहां नीतिविवेचनमें स्वार्थलक्षी सुखवाद या परार्थलक्षी सुख-

वाद, अनुभववाद या अंतर्ज्ञानवाद, परमश्रेय वा उन्नतिवाद, सामान्य उपयुक्ततावाद या उत्क्रांतिवाद से निर्णीत उपयुक्ततावाद, इन भिन्न भिन्न नीतिवादों का विच होता है। भारत में यह बात नहीं है। यहां भी नीतिकी तत्व दृष्टिसे समालोचना अवश्य हुई है, परंतु विशेष करके धर्मके साथ नीति संलग्न रक्खी गई है; और इस लिये कुछ एक अपवादों को छोडकर नीतिक विषयों पर विज्ञानवत् विचार नहीं किया गया है।

नीतिकी पद्धति के मुख्य विभाग भारत में निम्न प्रकार हो सकते हैं:—

क आर्यनीति

परापूर्वसे हिन्दु लोग रामायण और महाभारत को अपने धर्म और नीतिके वचनामृत का सागर समझते आये हैं। यदि रामायण, महभारत और भगवद्गीता इन तीनों का नीतिसार एकत्रित किया जाय तो आर्य नीति का ज्ञान भली भांति हो सकता है। उन में भी गीता की नीति सब का सार भूत है। उसमें षड्दर्शन के सत्यों का सुन्दर एकीकरण मिलता है; यद्यपि गीता का मुख्य प्रवाह एक दिशा कर्मयोगकी ओर है।

ख लोकायतिक अथवा चार्वाक नीति

चार्वाक नीति भारत में स्थिर नहीं होसकी। तथापि उस का जडवाद हमारे चित्तको विशेषतया आकर्षित कर रहा है।

ग जैन नीति

घ बौद्ध नीति

आर्य नीतिके कुछ प्रकीर्ण भेदों का उद्भव सम्प्रदाय नीति से हुआ है। इन संप्रदायों में मुख्य रूपसे शंकराचार्य्य, रामानुज, मध्व और गौणरूप से चैतन्य, कबीर, गुरुनानक, तुकाराम, नामदेव, रामदास, स्वामीनारायण, राधास्वामी, रामतीर्थ, स्वामी-विवेकानन्द आदि के पंथों का समावेश होता है। यह सर्व संप्रदाय प्रथमतः धर्म और तत्वज्ञान के संप्रदाय हैं। प्रत्येक से नीति विषयक ज्ञान स्वतंत्र रूप से निकालना प्रायः असंभव है। अलबत्ता प्रत्येक धर्मसंप्रदाय या तत्त्वसंप्रदाय (तत्ववाद) का ऐसी नीति के साथ संबंध होता है जो उस संप्रदाय के साथ सुसंगत होसके। शंकराचार्य के मायावाद का स्वीकार करने वाले शायदही सुखको जीवन का परमश्रेय मानलें, सर्व को ब्रह्मरूप मानने के कारण वे किसी भी प्रकार के स्वार्थवादके विमुख रहेंगे। परन्तु यह सिद्धांत शांकर मत में एक तत्त्व सिद्धांत है, नीति सिद्धांत के रूप में उस पर विचार कभी नहीं हुआ है। यहही हम भक्ति मार्ग के संप्रदायों के विषय में कहसकते हैं। इसलिये नीति की पद्धतियों का विचार करते समय ऊपर निर्दिष्टकिये हुये चार विभागोंकाही निरीक्षण करेंगे तो पर्याप्तहोगा।

क आर्यनीति

“**रामायण**” **नीति**–‘रामायण’ हिन्दुओंके जीवनमें दिव्यओजस्का प्रसार करनेवाला नीतिके आदर्शों से परिपूर्ण ऐति-

हासिक ग्रंथ है । उस महाकाव्यका समग्र प्रभाव ऐसा प्रबल है कि समस्त आर्य प्रजाको सर्व कालमें उससे जीवनके कई उत्तम सद्गुणोंका सतत प्रोत्साहन हुआहै और होता रहेगा । जैसेकि चाहेसो होजाय पर दिये हुये वचन पालन करना, पितृभक्ति और पितृप्रेम को उच्च प्रकारके सद्गुण मानना; एक पत्नीव्रत और पतिके सुख दुःखमें सदा सर्वथा भाग लेनेकी अद्वितीय आर्य वृत्ति, प्रजापालन और प्रजाके भावोंका आदरकारनेमेंही राजाका सच्चा गौरव है यह पितृवत प्रजा प्रेम इत्यादि शायदही कोई कोई ऐसा अभागी हिन्दू होगा जिसको राम या सीता, लक्ष्मण या हनुमान के जीवन के किसीनकिसी प्रसंगमेंसे सद्गुण की दिशामें बल न प्राप्त हुआ हो । रामायणमें नीति विषयक निरर्थक पांडित्य कहींभी दृष्टिगोचर नहीं होता है। वह तो वर्णनात्मक है । उसमें जिनचरित्रोंके वर्णन हम पढते हैं वेही ऐसे उदात्त हैं कि जिन्होंने यह ग्रंथ मूल रूपमें पढ़ाहोजैसे कि बहुत से लोग हैं उनपरभी इन चरित्रोंका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । उन उदात्त चरित्रों में से कमसे कम तथापि मुख्य उपदेश क्या मिलता है? किन सद्गुणोंके प्रवाह उनमेंसे बहते हैं? इन प्रवाहोंकी कैसी शीतलता और मधुरता है? इन बातोंका अब हम अवलोकन करें।

'रामायण' को हम 'सीताचरित' या 'सीताजीवन' कहेंतोभी परमोचितहै । आरम्भसे अंततक रामचन्द्रजीके जीवनका वैविध्य, सौंदर्य और बल सीताजीके पवित्र, प्रेममय वीर सतीत्व पर आधार रखता है ।

सीताजीके जीवनमें से हम सबको यह शिक्षा मिलती है कि दांपत्यमें पत्नीका पतिसे सम्पूर्ण ऐक्य है। एकका सुख वह अन्यकाभी सुख; एकका दुःख वह अन्यकाभी दुःख है। जब श्रीरामचन्द्रजीको वनवास जाना प्राप्त होता है, तब सीताजी उनके साथ वनमें जानेके लिये आग्रह करती हैं, और अंतमें जातीभी हैं। इस प्रसंगमें रामचन्द्रजीके साथ सीताजीका जो संवाद हुआ है उससे आदर्श पत्नीका स्नेह कैसा होता है? इसका रामायणमें सुन्दर चित्र दिया हुआ है, इस संवादका विशेष भाव यह है कि "आपके साथ जाने में मुझे सर्वथा सुख है, इतनाही नहीं परन्तु पत्नी होकर मेरा कर्तव्य मेरा सद्भाग्य और विशेषतया मेरा अधिकार है"। यह बात नीचेके श्लोकोंसे स्पष्ट होगीः—

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुंजानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्यच नारीणां पतिरेको गतिः सदा।

संक्षिप्त वाल्मीकि रामायण ॥३२४॥

न देवलोकाक्रमणां नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥ ३७९॥

अर्थात, हे आर्य पुत्र मा, बाप, भाई, पुत्र, बहु, यह सर्व अपने अपने भाग्य का सेवन करते हैं, क्योंकि वे अपने अपने पुण्यों को भोगते हैं। परन्तु हे उत्तम पुरुष भर्त्ता का भाग्य अकेली नारी कोही प्राप्त होता है। इस लिये मेरा बन में रहना उचित है। पिता, पुत्र, आत्मा, माता, या सखी जन इन में से कोई नहीं, परन्तु केवल पतिही इस लोक में और परलोक में नारी की गति है। आपके बिना देव लोक में जाना या अमरत्वप्राप्त करना भी मैं नहीं चाहतीहूं एवं लोकों के ऐश्वर्य कीभी आपके बिना मैं कामना नहीं करती हूं।

अरण्य में मृगरूप मारीच को जब रामचन्द्रजी मारडालते हैं, तब मारीच छलसे उनकासा आर्तस्वर करता है। उस समय सीताजीको रामचन्द्रजीके विषयमें चिंता होती है और वह लक्ष्मण को रामचन्द्रजी की सहायताके लिये जाने को कहती है। बिना रामके अधीर चित्त सीता कहती है कि

> समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्याम्यसंशयम् ।
> रामं विना क्षणमपि नैव जीवामि भूतले ॥ २९६–९७

हे लक्ष्मण तुम्हारे समक्ष मैं प्राणत्याग करूंगी
बिनारामके भूतलपर मैं एक क्षणभी नहीं जीसकती।

सीताका हरण करने के बाद रावण उनको तरह तरह के लालच देता है भिन्नभिन्न प्रकार से उनको भयभीत करदनेका प्रयत्न

कर उनको अपने वशकरने की इच्छा रखता है। परंतु यह सब निरर्थक होता है। यहही नहीं परन्तु सीता समय समय पर रावण को साधुता के विषय में उपदेश करती है, और सूचित करदेती है कि तेरी इस दुर्बुद्धिसे तेरानाश होजायगा। हनुमान जबसीता की खोजमें अशोक बनमें आते हैं, तब वह उनको रामका रटन करती हुई शोकग्रस्त दशामें देखते हैं; और जब वह सीताको अपनी पहचान कराते हैं तब सीता आकुल व्याकुल होकर उनको रामकी कुशलता के विषयमें प्रश्नपर प्रश्न करती हैं। इससे आदर्श स्नेह के परिणाम में अधीरता को प्राप्त हुआ उनका स्वभाव सूचित होता है। × × × × ×

लोकापवाद के बलपर रामचंद्रजीने सीताका त्याग किया और उनको वाल्मीकि के आश्रम में भेजदिया। कुश और लव के जन्म होनेके वाद श्रीरामचंद्र आश्रम में गये और यद्यपि वे जानते भी थे कि सीता शुद्धथीं, सतीथीं, तथापि लोकापवाद से प्रगट रीतिसे मुक्त होनेके लिये सीताजीने भूमिमाता के आगे अपने स्त्री शीलकी शुद्धता के विषय में शपथ लिया और अंतमें उनका भूमिमें समावेश होगया। इस घटना का वर्णन लोक समूह की कल्पनापर उत्कृष्ट चित्र निर्मित करने योग्य है। उसका विशेष आकर्षकत्व सीताके उच्चार किये हुये नीचे के वचनों में है?

यथाहं राघवादन्यं मनसाऽपि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ ४८७ ॥

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथामे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ ४८८ ॥

यदिमैंने श्रीरामचन्द्र के सिवाय अन्यकिसीका मनमें भी चिंतन किया हो, रामका मैंने मन, वाणी और क्रमसे पूजन किया हो तो हे देवी मुझे भूमिमे मार्ग दो। अर्थात् सीता अपनी मानसिक, कार्मिक शुद्धताके सम्पूर्णता के बलसे भूदेवी के विवर में मार्ग चाहती है और वह संपूर्णता उनको वह मार्ग मिलने से सिद्ध होजाती है। सीताके अलौकिक पूज्य चारित्र्यका यह चित्र हमारे लिये बडे गर्व और अभिमान का कारण है।

सीताके दुःखों का पठन या श्रवण करने से कौन आर्य स्त्रियोंके सुकोमल हृदय कम्पित न हुए होंगे। विपत्ति में सीताके धैर्य को देखकर किन आर्य स्त्रियोंको आत्मबल प्राप्त न हुआ होगा। सीताकी अलौकिक पतिभक्तिकी सुंदरता और नीतिमत्ताने किन स्त्रियों के चारित्र्यपर मोहक और उन्नति कारक प्रभाव न डाला हो। कर्ण परम्परासे ज्ञात होने वाला इस चरित्र का अपूर्ण चित्रभी ऐसा मोहक है कि उसमें से उत्तम पत्नी और आदर्श स्त्री के सद्‌गुणों के विषयमें अनेक आर्यगृहों में अनेक स्त्रियोंको सहज नीतिबोध मिलतारहा है और भविष्य में भी मिलता रहेगा।

रामके चारित्र्य में अद्वितीय पितृभक्ति, अद्वितीय एक पत्नि व्रत और अद्वितीय नृपत्व का स्पष्ट चित्र हमें प्राप्त होता है। सारी दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई दृष्टांत नहीं है कि

जिसमें राजकार्यभार के लिये सर्वथा कुशल होनेपरभी किसी राज कुमार ने पिताकी इच्छा का आदर करने के लिये राज्यके विषय में त्यागवृत्ति धारण की हो और राजसिंहासन के बदले में बनवास के कष्ट सहन कियेहों। श्री रामचंद्र विरक्त न थे। श्रीरामचन्द्र अशक्त न थे। बहुधा " अशक्तिमान भवेत साधु " वाली बात होती है। परंतु रामचद्रजी की शक्ति सुविज्ञातभी थी और रावण के साथ युद्धमें उसकी उत्तम परीक्षा भी हुई उनके राजत्याग के लिये पितृ आज्ञापालन और पितृस्नेह के अतिरिक्त और किसी कारणकी कल्पना तक नहीं होसकती है। जगत् में देखा जाता है कि जहां शक्ति हो वहां क्षमा का होना बहुत कम देखने में आता है, दुःखहो वहां मानसिक शांतिका प्रायः अभाव होता है, सुख संपत्ति हो वहां प्रसंग वशात् होनेवाली वैराग्य वृत्ति का स्वीकार करने की इच्छा अत्यल्प होती है। परंतु श्रीरामचंद्र के विषय में हम विरुद्ध बातों का समाधान बडी सुगमतासे शक्य हुआथा। जबराज्य के बदले में वनवास ग्रहण करने के विषय में कैकैयीने रामको कठोर वचन सुनाये उस समय पर मनुष्य मात्र को सुलभ क्रोधवृत्ति को धारण न करतेहुए रामचंद्रजीने आनन्द पूर्वक उनका स्वीकार किया

श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत्।
एव मस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहंत्वितः॥ २३२

कैकेयीके वचनों को सुनकर रामको व्यथा न हुई परन्तु कैकेयी को उन्होंने कहा " अस्तु मैं यहां से वनमें रहने को जाऊंगा।

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरिशुश्रूषा तस्य वा वचन क्रिया ॥ २४९

पितृ शुश्रूषा से अन्य कोई वस्तु महत्तर नहीं है । अथवा उनकी आज्ञाका पालन करने से अन्यकोई वस्तु महत्तर नहीं है । इस प्रकार श्रीरामचंद्र पितृ भक्ति, शांति, त्याग और क्षमाके मूर्तिमान् रूपथे ।

इसके अतिरिक्त राममें उत्तम पत्नी प्रेम ओर प्रजाप्रेमसुव्यक्त सद्गुणथे । सीताका हरण होने के बाद रामकी व्यथितस्थिति, और सीताके लिये रामरावण युद्ध इन घटनाओं में रामका पत्नीप्रेम दृष्टिगोचर होता है । इसी तरह लोकापवाद के कारण रामका कियाहुआ सीताका त्याग हमें रामके प्रजा प्रेमका ज्ञान कराता है । प्रजाकी इच्छा प्रथम और अपनी व्यक्तिगत इच्छा पीछे, अर्थात्, प्रजाके रंजन और संतोषमें ही राजाका गौरव रहा है, इस बातके स्वीकारका साक्षीभूत रामका वर्तन है ।

लक्ष्मणके चारित्र्यमें उदात्त भ्रातृ स्नेह और सेवा-वृत्तिके चित्रका दर्शन होता है । लक्ष्मणका सारा जीवन मानो श्रीरामचन्द्र की सेवा करनेके लिये और श्रीरामके प्रति प्रीति रखने के लिये निर्मित हुआथा । लक्ष्मणको चाहे श्री रामचन्द्रके भाई कहो शिष्य कहो या दास कहो तो सुसंगत होगा । कैसी अतुल भ्रातृ भक्ति ! जैसी रामके प्रति लक्ष्मणकी पूज्य वृतिथी वैसी ही सीताकी ओर

थी, और वह सम्पूर्ण शुद्धता समेत थी। सीताका हरण करके रावण उनको लेजा रहा था उस समय रास्ते में उन्होंने अपने वस्त्र और आभूषण पृथ्वीपर डाले थे, इस अभिप्रायसे कि अपने जानेका मार्ग श्रीरामचन्द्रको मालूम हो जाय। जब सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रके अभिज्ञानार्थ वे वस्त्र और आभूषण दिखलाये तब श्रीरामचन्द्रने उनको पहचानने के लिये लक्ष्मण से पूछा; उस प्रसंगपर उत्तर में लक्ष्मणने जिन वचनोंका उपयोग किया है, उनसे लक्ष्मणकी शुद्धता, सात्विक प्रीति और उच्च ब्रह्मचर्य का पूरा निश्चय होता है। लक्ष्मण कहते हैं:—

> नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
> नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥ १००-१

मैं सीताके केयूरों को नहीं पहचान सकता, न उनके कुण्डलों को। अर्थात्, शरीर के ऊपर के भाग में धारण होने वाले इन आभूषणों पर मेरी कभी दृष्टितक नहीं गई थी, तो फिर उनके पहचान की तो वार्ताही क्या? परन्तु नूपुरों को मैं पहचान सकता हूं; अर्थात् मैं कह सकता हूं कि वे सीताजी के हैं; क्योंकि नित्य उनके पादों का अभिवन्दन करने के कारण मेरी दृष्टि उनपादों पर हमेशा पडती थी, और इसी लिये पादों के आभूषणा को मैं पहचान सकता हूं।

भरत के जीवन में भी भ्रातृस्नेह और उसके उपरांत न्याय वृत्तिका श्रेष्ट दृष्टान्त हमें मिलता है। अन्याय से मिलने वाला

राज्य भरत को इष्टनथा। उसका सच्चरित नीचे दिये हुए श्लोक से स्पष्ट विदित होता है

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना॥ २०२
त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः।
अयशो जीवलोके च त्वयाऽहं प्रतिमादितः॥ २०३

हेमाता कैकेयी, मैं श्रीरामचन्द्रका दास होकर रहूंगा; तेरे कारण राम अरण्य को गये, और मुझ को अयश प्राप्त हुआ। श्रीरामचन्द्र को अयोध्या लानेके लिये प्रार्थना के निमित्त भरत राम के आश्रमको जाते हैं, और वहां सफल न होने पर अन्तमें उनकी पादुका का स्थापन करके श्रीरामचन्द्रकी अनुपस्थिति के समय में राज्य करते हैं। इस घटना में से और क्या बात साबित होती है

इस तरह रामायण में हमें पितृ भक्ति, एक पत्नीव्रत, प्रजा प्रेम, सतीत्वके सद्गुण, एवं धैर्य, शुद्धता, पतिभक्ति, भ्रातृप्रेम, और भ्रातृ सेवाके उत्कृष्ट दृष्टान्त मिलते हैं। तदुपरांत भरतकी न्याय वृत्ति, दशरथका वचन पालन, हनुमानकी सेवा वृत्ति आदि छोटी विशेषताओंकी ओर दृष्टि डालें तो एक सुदंर मनोराज्य, अथवा इससे भी अधिक कहें तो इस संसारमें सत्य प्रेम और न्याय के साम्राज्य के स्वर्गका हमें यह आर्य इतिहास दर्शन कराता है "रामराज्य" इस शब्दसे यह बात सूचित होती है। इस शब्द का हम बारंबार उपयोग करते हैं, यहभी उचित् है। जबतक आर्यों

का आर्यत्व रहेगा, तबतक श्रीराम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान इन नामों की जादुई नैतिक शक्तिसे सहस्र नीति पुस्तकों में दिये हुए नीतिके उपदेशों से भी अधिक नीतिबोध हिन्दु जीवन को सतत प्रोत्साहित करता रहेगा।

'महाभारत' नीतिः—"महाभारत" ज्ञान और नीतिकी खानिहै उसमें की नीति विशेषतया व्यावहारिक है। इस व्यावहारिकता के कारण हमें ऐसा ज्ञान होता है कि उसके पात्रगण इस संसार के होते हुए भी, वे हमसे उच्च श्रेणिके स्त्री पुरुष हैं। अर्थात् उसके आदर्श चित्र मानुषी गुण दोषोंसे इस प्रकार युक्त हैं, कि उनका आदर्शत्व हमें सुलभजान पडता है; जैसे उसके सुनीति युक्त पात्रों की उदात्तता हमें सुलभ माल्लम होती है, वैसेही उसके दुर्नीति युक्त पात्रोंकी अधमता भी रागद्वेष के प्रसंगों में हमें फंसा सके ऐसी माल्लम होती है। उसमें नीतिका उपदेश व्यक्त एवं अव्यक्त, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष, दोनों रीति से दिया गया है। वह नीति–विषयक ग्रंथ नहीं है न उसमें नीतिका व्यवस्थित विवेचन है। तथापि हम कह-सकते हैं कि उसमें नीति रस विशेष प्रकारका है। उस नीति गीत का कौनसा सुर अधिक सुव्यक्त है? इसका उत्तर "महाभारत" में ही मिलता है। "स्वर्गारोहण पर्व" में वह निम्नरीतिसे प्रदर्शित किया गया है:—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥

हर्षस्थान सहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥
उर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च सकिमर्थं न सेव्यते ॥
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र आदि पीढी दर पीढी इस संसार में आगई, मौजूद है और आयगी; ऐसी संसारकी चाल है; इस अनित्यतासे वह चला जा रहा है। हर्ष और भयके हजारों स्थान प्रतिदिन मूढ पुरुषके मस्तिष्कमें प्रवेश करते हैं, पण्डित या सुज्ञ पुरुष के मस्तिष्कमें नहीं। "धर्मसे अर्थ और कामलभ्य हैं, तो फिर धर्मकाही सेवन क्यों नहीं किया जाता है?" इस बातकोमैं (सौति) ऊर्ध्व बाहु होकर रुदन पूर्वक कहताहूं, परंतु कोई श्रवण नहीं करता। कामसे या भय से या लोभसे या जीवितके निमित्त धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। धर्म नित्य है, पर सुखदुःख अनित्य हैं; जीव नित्य है, पर उसका हेतु अनित्य है। सारांश कि, आसक्तिमात्र अनित्य है, केवल धर्मही नित्य और ध्रुव है; तो इन वस्तुओंके निमित्त धर्मका कभी त्याग न किया जाय। धर्मका पालन निरपवाद स्पष्ट आज्ञाका पालन है, यह इन श्लोकोंका भावार्थ होता है; और

धर्म और कर्तव्यको इसतरह मानने का सबल कारण यह प्रदर्शित हुआ है कि वहही नित्यहै इस लिये उसीमें तात्त्विक सत्य है। तत्त्वतः धर्म ही सच्चा है, तात्विक सत्य है, इसलिये सदैवधर्म काही अनुसरण किया जाय। इस प्रकार नीतिका तत्त्वविद्यासे समर्थन होता है, और उस विद्यापरही उसका निर्माण है, यह सकारण कहा गया है।

महाभारतके नीतिबोधका यह सामान्य निरूपण करने के बाद उसके विषयमें निम्नरीति विशेषतासे उस चित्रका आलेखन हम कर सकते हैं। तीन बातोंपर दृष्टि रखकर वह आलेखन होस-कता है; प्रथम उसके प्रत्यक्ष नीतिबोध की तरफ़ दृष्टि करके द्वितीय, उसकी आख्यायिकाओंमें से कई एकके रसिक सारकी तरफ दृष्टि कर, और तृतीय उस के पात्रोंके जीवनकी तरफ दृष्टिकरके।

नीति विषयक उपदेश " महाभारत " में विशेषतया " प्रजागरपर्व " और " शान्तिपर्व " में मिलता है। उस उपदेश की सबबातों को देखनेसे सहज मालूम पडता है कि भिन्नभिन्न अनेक सद्गुणों की महत्ता के विषय में उस ग्रंथमें क्या कहागया है। प्रत्येक स्थलपर सत्य, क्षमा, धैर्य, अहिंसा, शौर्य, पतिव्रता धर्म और दानकी महत्तापर भारदिया गया है। हमें आश्चर्य होता है कि स्वदेशाभिमान या सर्व देशीय भ्रातृत्व के विषयमें इसभव्य

ग्रंथमें कहीं इशारा मात्रभी नहीं है। दुर्गुणों में विशेष कर काम क्रोध, लोभपर भारदिया गया है।

जहांजिस सद्गुण का वर्णन किया गया है वहां वही सर्वोपरि सद्गुण हो इस प्रकार उस संबंधी विवेचन है; और दुर्गणों की निन्दामेंभी उसीतरह प्रस्तुत वस्तुपरही पूरा पूरा जोर दिया गया है। ये विवेचन कैसे हैं उसका खयाल सत्य और क्षमा इनदो उपयोगी सद्गुणों के वर्णनोंमेंसे थोडासा सुंदरवर्णन पढने से आसकेगा।

सत्य—जब युधिष्ठिरका द्यूतमें पराभव हुआ तब उनको बैर लेने का मार्ग बतलाया गया। उस प्रसंगपर उन्होंने भीमको नीचे दियाहुआ अर्थ गंभीर श्लोक कहा है। यह श्लोक सत्यकी भव्यता और सुन्दरता के एवं सत्यकी सम्पूर्ण नैतिक आवश्यकता को कैसी विषद रीतिसे प्रकट करता है।

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे सत्यममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशोधनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥ वनपर्व

हे भीम! तू मेरी प्रतिज्ञाको सत्यजान। अमृत और जीवनसे भी मैं सत्यको अधिक चाहताहूं। राज्य, पुत्र, यश ये सर्व सत्यकी कलाको नहीं पहुंच सकते हैं।

दुष्यन्त राजा जब शकुन्तलाके गान्धर्व विवाहका इन्कार करते हैं तब जिस निर्भयता और सत्य प्रेमसे शकुन्तला उनको उत्तर देती है उससे सत्य के प्रति उसका अलौकिक मान प्रदर्शित होता है शकुन्तला कहती है:—

वरं कूपशताद्वापी वरं वापी शतात्क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं च पुत्रशताद्वरम् ॥
अश्वमेधसहस्रंच सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥
अनृतश्चेत्प्रसंगस्ते श्रद्दधासि नचेत्स्वयम् ।
आश्रमं गन्तुमिच्छामि त्वादृशो नास्ति संगतम् ॥ वनपर्व

एकसौ कूप (बनवाने केपुण्यकी अपेक्षा) एकबावडी (बनवानेका पुण्य) बढकर है ऐसी सौ बावडियोंसे एक यज्ञ बढकर है एकसौ यज्ञोंसे एक पुत्र बढकर है, परन्तु एकसौ पुत्रोंसे भी सत्य बढकर है । एक हजार अश्वमेध और सत्य इन दोनोंकी तुलना करे तो हजार अश्वमेधोंसे सत्यही बढजाता है । हे राजन् ! यदि गांधर्व लग्नका प्रसंग तुमको असत्य मालूम होता हो, और तुमको अपने में श्रद्धा न होतो मुझे फिर आश्रम को लौटजाने की इच्छा है । तुम्हारे जैसे असत्यवादी का संग (इष्ट) नहीं है ।

क्षमा—महाभारतमें क्रोध और द्वेषको उत्पन्न करने वाले अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं, इसलिये उसमें क्षमा के सद्गुण पर

बारंबार बहुत जोर दिया गया है, यह ठीक है । 'प्रजागरपर्व' में क्षमा विषयक नीचेके उत्तम श्लोक हैं:—

> क्षमा गुणोह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।
> क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ॥
> शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ।
> अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
> अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥

अशक्त लोगों का क्षमा गुणहै, पर शक्त लोगोंका वह भूषण है । इस लोकमें क्षमा एक वशी करण है; क्षमासे किसबातकी सिद्धि नहीं होसकती है ? अर्थात् क्षमासे सबकुछ साध्य है । जिस पुरुष के हाथ में क्षमारूपी शांति खड्ग है उसको दुर्जन क्या कर सकता है ? तृणरहित स्थानमें गिराहुआ वह्नि आपही बुझ जाता है, जैसे क्षमावाले पुरुष के प्रति क्रोध आपही शांत होजाता है । जो पुरुष दूसरे के विषयमें क्षमानहीं रखताहै वह अपनेकोही दोष युक्त बनाता है ।

जब द्रौपदी कहती है कि कालभेद और प्रसंगभेद के कारण क्षमा और क्रोध दोनों उचित हैं, तबयुधिष्ठिर क्रोधकी गर्हणा करते हैं, और क्षमा कोही सर्वदा उच्चतर बताते हैं । इस संबंधमें युधिष्ठिर द्वारा कहे गए नीचे के श्लोक विशेष आकर्षक हैं:—

नाकार्यं न च मर्यादां क्रुद्धो न पश्यति ।

*   *   *   *

क्षमावतां हि भूतानां जन्म चैव प्रकीर्तितम् ।

*   *   *   *

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमायेदं धृतं जगत् ।

*   *   *   *

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा यज्ञः क्षमा शमः ॥ वनपर्व

क्रोध युक्त नर यह नहीं देखता है कि क्यानहीं करना चाहिये और (कार्यकी) क्या मर्यादा है ।

क्षमा युक्त प्राणियों के ही जन्मकी प्रशंसा होती है ।

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत तथा भावि (सत्य) है, क्षमा तप है, क्षमा शौच है । क्षमासेही यह जगत् स्थिर रहता है ।

तेजस्वी का तेज क्षमा है तपस्वी का तप क्षमा है । और सत्यवान् का सत्य क्षमा है; क्षमा शम है ।

महाभारतके अमुकामुक नीति विषयक आख्यानों में सद्गुणों के पूरे दृष्टान्त मिलते हैं । जैसा भार शांति और धर्मपर सारे " महाभारत " में दिया हुआ है, वैसाही उन के आख्यानोंमेंभी है । उस के असंख्य आख्यानों में कईतो ऐसे सरस और

बोधक हैं, कि उसविषयका संक्षिप्त विवेचन कर के इनका हार्द देखने से उन आख्यानों की उत्तमता का बोध हमें होसकता है।

ययाति के आख्यान का उपदेश

किसी समय शर्मिष्टा और देवयानी बनमें टहलरही थी। टहलती टहलती एक कुएके पास नहाने को गई। वहां गुरुपुत्री देवयानीने राजपुत्री शर्मिष्ठा को गालीदी। शर्मिष्ठाने क्रुद्ध होकर देवयानी को कुए में फेंकदिया। अकस्मात् ययातिराजा उस स्थानके पास होकर जारहे थे। उन्होंने कुएमें गिरी हुई देवयानी की रोने की आवाज सुनी और उसको बाहर निकाला। देवयानी के हृदय में राजा के लिये प्रेम उत्पन्न हुआ, और दोनों का विवाह होगया। शर्मिष्टाके किये हुये अपमानके बदले में देवयानीने अपने पितासे यह वरदान मांगलिया, कि वह मेरी दासी होकर रहवे। इस प्रकार उसने अपने वैरका शमन करना सोचा। अंतमें उस वरदान का परिणाम उस के लिये दुःखप्रद हुआ। कुछ समय के पश्चात् ऐसी घटना हुई, कि देवयानीने अपने पतिके सदृश आकृतिवाले लडकों को अपने पास आते देखा। इस सादृश्य से वह चमक उठी। तलाश करने से मालूम हुआ कि वे लडके शर्मिष्ठासे उत्पन्न हुए ययातिके पुत्र थे। इसपर क्रोधकरके देवयानी अपने पिताके पास-गई और उस के द्वारा ययाति को शाप दिलवाया कि " तूने ऐसा दुष्ट आचरण किया है इसलिये तुझको अकाल वृद्धावस्था प्राप्त हो"

परिणाम यह हुआ कि ययाति का यौवन नष्ट होनेपर स्वयं देवयानी कोही दुःख उठाना पडा। दिलाए हुए शाप के लिये उसको पश्चात्ताप हुआ और अपने पितासे शापके सान्त्वनकी याचना की। पिताने कहा कि "शापके अनुसार ययाति वृद्धतो अवश्य होगया है, परन्तु यदि कोई दूसरा मनुष्य उसकी वृद्धावस्था लेनेको राजी होगा, तो उसको वहदी जासकेगी"। युवावस्था के भोग भोगनेके अभिलाषी राजा ययातिने युवावस्था फिर प्राप्त करने के लिये अपने पुत्रों को बारी बारीसे पूछाकि "तुममें से कोई मेरी वृद्धावस्था लेकर तुम्हारी युवावस्था मुझे दोगे? बडे लडकोंने तो साफ इन्कार किया, केवल पूरुने उसबात को स्वीकार किया। ययाति को पूरुका यौवन प्राप्त हुआ और अनेक वर्षोंतक संसार के भोगों को भोगा। अंतमें उसको ज्ञान हुआ कि इच्छाओं को तृप्त करने से शांति कदापि नहीं मिलती है, केवल संतोष वृत्ति धारण करने से वह मिल सकती है। इस सत्य व्यापक और अतीव उपयोगी अनुभव को ययातिने पूरुको नीचे दिये हुए श्लोकोमें वर्णित किया है। वे श्लोक शांति और संतोष का कैसा गंभीर रसयुक्त उपदेश देते हैं!

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्य पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मातृष्णां परित्यजेत्॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ आदिपर्व

इच्छित वस्तुओंका उपभोग करने से मनकी शांति नहीं होती परंतु जिस प्रकार हवि से अग्नि वृद्धि पाता है उसी प्रकार इच्छा की तृप्ति से इच्छा बढ़ती है। पृथिवी में जितना अन्न, सुवर्ण, पशु, स्त्रिएं हैं यह सब एक मनुष्य के भोगों की तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं इस लिए तृष्णा का त्याग करना चाहिए। जो दुर्मतियुक्त पुरुषों से दुस्त्याज्य है, जो वृद्धावस्था प्राप्त पुरुष के लिए भी कम नहीं, जो प्राणान्तक रोग है वह स्वयं तृष्णा का त्याग करने वाला मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है।

इस तात्त्विक अनुभव के परिणाम से पूरु को यौवन पुनः देकर ययाति ने राज्यासन भी त्याग किया और पूरु को राजा बनाया। ब्राह्मणादि पुरुषों ने ययाति से पूछा कि हे राजन् पूरु तो आप का सब से छोटा पुत्र है आप अपने बडे पुत्र को राज्य न देकर इसे क्यों देते हैं ययाति ने उत्तर दिया मेरे ज्येष्ठ पुत्र ने मेरी इच्छा के प्रतिकूलवर्तन किया है, पूरु मेरे अनुकुल रहा है, इसलिये पूरु मेरा ज्येष्ठपुत्र है। वय में नहीं किंतु सद्गुणमें बडा होता है, वहही सच्चा ज्येष्ठ पुत्र है।

आत्मनः सदृशः पुत्रः पितृदेवर्षिपूजने।
यो बहूनां गुणकरः स पुत्रो ज्येष्ठ उच्यते ॥

संतोष मेंही शांति है और बडप्पन सद्गुणसेही प्राप्त होता है वय से नहीं—यह दो उपदेश हम इसनीतिरसपूर्ण आख्यान से सीखते हैं ।

नलोपाख्यान और सावित्र्युपाख्यान—यह दोनों उपाख्यान मूलमें नहीं तो अनुवादमें प्रायः सब साधारण शिक्षित हिन्दुओं को ज्ञात हैं । यह दोनों " महाभारत " के वनपर्वमें है । जिस संबंधमें उनका वर्णन हुआ है, उससेही उनका नीतिबोध बहुत सहज होजाता है ।

युधिष्ठिर बृहदश्वको प्रश्न करते हैं:—" इस संसारमें तुमने मुझसे अधिक दुर्भागी राजा न देखा होगा न सुना होगा; मुझसे अधिक दुःखित मनुष्य कोई होगा क्या ?" इसके उत्तर में बृहदश्व उनको नलोपाख्यान सुनाते हैं । जिसतरह पांडवोंने द्यूतके कारण राज्य वैभव खोया उसी तरह नलको भी उसी व्यसन के कारण राज्य खोना पडाथा । जिसतरह पांडवों को उससे परिणाममें वन-वास के अनेक दुःख सहने पडेथे उसीतरह बल्कि उससेभी अधिक दुःखका अनुभव नलको करना पड़ाथा । तथापि जिस प्रकार पांड-वोंने सत्य, धर्म, और क्षमाके उत्तम सद्गुणोंका पालन कियाथा, उसीप्रकार नलनेभी किया था । कवि प्रेमानन्दके " नलाख्यान " से यह वृत्तांत और उसमें झलकता हुआ नीतिरस गुर्जर पाठकों को सुविदित है ।

इसी तरह सावित्र्युपाख्यानभी सुविदित है। सावित्रीका पति-प्रेम, सावित्री की शुश्रूशा, सावित्री का धैर्य—प्रत्येक आर्य स्त्री को गर्वसे भरदे ऐसे सद्गुण हैं। युधिष्ठिर कहते हैं कि "मै स्वयं अपने दुःखोंके लिये या मेरे भाइयों के दुःखोंके लिये जितना शोक नहीं करता उतना इस द्रौपदी के दुःखोंके लिये करता हूं" उसशोक के शमन के निमित्त सावित्री का उपाख्यान उनको सुनायागया। द्रौपदी को तो क्या ही दुःख था? उससे कई गुणा अधिक दुःख सावित्री पर आपडाथा, और उस दुःखको सहन करने में और उसके साथ युद्ध करने में वह उसके पतिप्रेम और धैर्य के सद्गुणों से समर्थ हुईथी, ऐसा उस आख्यान का सारांश है। इस आख्यानका चित्ताकर्षक और नीतिसूचन से भरपूर भाग उसमें के यम सावित्री संवाद में है। उस भागकी रसिकता गुजरात में 'सुकन्या सावित्री" के नाटक से घरघर सुविज्ञात होगई है। पतिव्रता स्त्री की पति शुश्रूषा क्या नहीं करसकती! मृत्युकोभी हटा सकती है—इस बातका इस आख्यान में वर्णन है। उसके सार रूप इतनातो सबकोई स्वीकार करसकेंगे कि सतीत्वके सद्गुण की श्रेष्ठता बहुत उच्च पंक्तिकी है। हिन्दुस्त्रियां वट सावित्रीद्वारा सावित्री का स्मरण अपने सौभाग्यकी वृद्धि करनेवाला मानती हैं, यह सर्वथा उचित है।

शिबिराजाका आख्यान

शिबिराजाके आख्यानसे शरणागत के रक्षणरूपी सद्गुण का उच्चदृष्टांत मिलता है। शिबिराजा शरणार्थी के पालन और रक्षण

करने के लिये विख्यात हुएथे। उनकी परीक्षा करने के हेतु इन्द्र और अग्निने श्येन और कपोत के रूप धारण किये। श्येन कपोतके पीछे जाता है और कपोत आत्मरक्षणके लिये शिबिका आश्रय मांगता है राजा कपोत का रक्षण करने को तत्पर होता है, तब श्येन कहता है कि "हे राजन् वह मेरा भक्ष्य है, मुझसे उसको छुडालेना उचित नहीं है" तब राजा कहता है "कपोतके बराबर मांस मैं मेरे शरीरसे तुझे देनेका तय्यार हूं" इस शर्तपर कपोतको छोड-देना श्येन स्वीकार करता है। राजा कपोत को तराजुमें तुलवाता है। परंतु कपोत का वजन बढ़ता रहता है और अंतमें मांस का वज़न उसके बराबर करने के लिये राजा अपने सारे शरीरको अर्पण करता है। शिबिकी परीक्षा पूरी हुई और उसमें उसका सद्गुण नष्ट नहोते हुए अधिक प्रदीप्त हुआ। इन्द्र और अग्नि शिबिको पराभव देनेके हेतु आये थे वे उलटे इस अत्युत्तम आत्मत्यागसे संतुष्ट होकर लौटगये। आख्यान का सुंदर बोध यह है कि सच्ची सेवा चाहे वह कैसी भी क्यों न हो, केवल श्रम और संपत्तिके व्ययसे ही नहीं परंतु स्वयं अपने को अर्पण करदेनेसे होती है। जो उत्तम सेवा करना चाहे उसको उचित है कि वह स्वत्व का त्याग करने के लिये तत्पर रहे।

विदुलोपाख्यान

जैसी दशा हिन्दुस्त्रियों की आजकल है, उससमय में नथी। शौर्य को चाहना और शौर्यको उत्तेजित करना वे अपना कर्तव्य

समझती थीं। ग्रीस देशकी माता युद्ध क्षेत्र को जाने केलिये उद्यत अपने पुत्रसे कहती कि "यातो तेरी ढालके साथ विजयी होकर लौटना या ढालपरही समरांगण में सोजाना; अर्थात भीरुपुरुषकी तरह घबडा कर कदापि पीछा न आते हुए निडर रहना और मरना पडे तो मरनाही तेरा कर्तव्य है। इसी प्रकारका प्रोत्साहन विदुला के उपाख्यान में देखाजाता है। जब श्री कृष्ण धृतराष्ट्रसे पांडवों का समाधान करनेमें असमर्थ हुए और युद्ध करनाही निश्चित हुआ, तब पांडवों के पास लौटने से पहले वे विदुरजीके स्थानपर कुंतीसे मिलने गये। वहां जाकर उन्होंने कुंतीसे पूछाकि " तुम अपने पुत्रोंको क्या संदेशा भेजना चाहती हो कुंतीने उत्तर दिया कि संदेशा यही भेजना चाहती हूं कि हे पुत्रो, तुम विदुलाके आख्यान का सार दृष्टि के आगे रखकर वर्त्ताव करना। वह आख्यान में आपको सुनाती हूं कि उसे आपउन्हें सुनादीजिये वह आख्यान इस तरह है:—

विदुलाका छोटा पुत्र रणक्षेत्रसे भाग आया। उस समय विदुलाने पुत्रसे कहा कि ऐ भीरु लडके उठ! तेरी कायरता से तू केवल तेरे शत्रुओंकोही आनन्द देताहै, और किसी को नहीं! जिस पुरुष मै शौर्य नहीं वह निकम्मा है।

उत्तिष्ट हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान्नन्दयन्सर्वान्निर्मानो बन्धुशोकदः॥

सुपूरा वै कुनादिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः ।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥

हे कापुरुष, खड़ाहो । यों पराजित होकर क्यों सोता है ! केवल तेरे शत्रुओं को ही तू आनंद देता है । अपने लिये तूने क्षुद्र अभिप्राय करलिया है, यह तेरी भूल है । जैसे छोटे नाले शीघ्र भर जाते हैं जैसे छोटी अंजली शीघ्र भरजाती है वैसेही डरपोक मनुष्य थोडीसी प्राप्ति होनेसे संतुष्ट होजाता है, अर्थात् स्वल्प से संतुष्ट होजाता है । स्वल्पसे संतुष्ट होना कापुरुषको शोभा देता है शूर को नहीं । इसलिये उठ लड़ और विजय प्राप्तकर । इसके उत्तर में पुत्र बोला कि हेमाता तुम यह इच्छा रखतीहो कि मैं मरजाऊं ! मेरेविना क्या तुम रहसकोगी ? विदुलाने कहा कि ' मूर्खपुत्र ; क्या तुझको इस बातका कुछभी विचार नहीं होता कि जबतेरी माता और तेरी स्त्री तुझे भीख मागते देखेंगी, उससमय तेरा जीवन तुझे कैसा भाररूप मालूम होगा ? विदुलाके वाग्बाण लड़के को लगे वह युद्धक्षेत्रको गया और अन्तमें जीता ।

हे कृष्ण यह आख्यान पांडवोंको सुनाइये और कहिये कि मेरे पांडवों जैसे पुत्रहोनेसेभी यदि मुझे दूसरोंके आधापर रहनापडे तो इससे विशेष दुःखकर और क्या होसकताहै ? शूरत्व की कैसी उच्चभावना और शूरत्व रखनेके लिये कैसा उत्तम संदेशा !

" महाभारत " का नीतिचित्र उस ग्रंथके मुख्यपात्रों के

चारित्र्य की ओर दृष्टिकरने से भी उपलब्ध होता है। भीष्म अर्थात् मूर्तिमंत ब्रह्मचर्य। अपने पिता शांतनु और सत्यवती की प्रजाको किसी प्रकारके दुःख होनेका संभवभी न रहे इस हेतुसे भीष्मने प्रतिज्ञाकी थी कि मैं मरणपर्यंत ब्रह्मचारी रहूंगा। अपना कुछ संतान होनेपर सत्यवती की प्रजासे ईर्ष्या और कलह का प्रसंग आवे, इसलिये ऐसे प्रसंग के मूलकाही इस प्रकार उन्होंने छेदन करडाला। प्रतिज्ञानुसार भीष्मने साराजीवन ब्रह्मचर्यमेंनिकाला। उनके चारित्र्यसे भली प्रकार जान सकता है कि ब्रह्मचर्यका तेज कैसा होता है। उस ब्रह्मचर्यका भीष्मने क्यों स्वीकार किया! केवल पितृ प्रेमके प्राबल्यसेही। उत्तम पितृप्रेम, उत्तम ब्रह्मचर्यका दृष्टांत भीष्मने हमें दिया है। युधिष्ठिरके सत्यप्रेम और धर्मनिष्ठा चित्तपर बड़ा प्रभाव डालते हैं। कर्तव्य अथवा धर्म उनके जीवनका महामंत्रथा, उसके उदाहरण महाभारतमें अनेक प्रसंगपर मिलते हैं। सच्चीखूबीतो यहहैकि वह धर्मनिष्ठा युधिष्ठिरके चारित्र्यके स्खलनके उदाहरणमें प्रदीप्त होती है और उसीकी तरफ हम यहां ध्यानदेंगे। द्यूतका गर्ह्य खेल खेलना उन्होंने दोबार हाथमें लिया। एकवार कडवा अनुभव हुआ और साथकेसाथ अपना सर्वस्व गंवाया। तथापि दूसरीबार द्यूतके आकर्षक खेलमें शामिल हुए और उसबारकी शर्तके अनुसार उनको अपने भाइयों और स्त्रीके साथ वनमें जानापडा परंतु यह आकर्षण किस प्रकारकाथा ? वह खेल या शौक या आनन्द के आधारपर नहींथा। ऐसा होनेपर हमें उनके चारित्र्य

स्खलनकी और निंदाभाव उत्पन्न होवे ! वह शूरत्व के चिन्हके रूपमें उत्पन्न हुआ था; वह आव्हान ही उस समय मनुष्य को भीरु नहोकर आव्हानका स्वीकार करना इस क्षात्रधर्मका निगमन था। उनका यह वर्तन एक व्यावहारिक अनुमान था। उनका यह आधार नीचेकी प्रतिज्ञापर था।

आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्।

आहूत होनेपर मैं कदापि पीछे नहीं हटता। नीचेके दो श्लोक इस अभिप्रायको औरभी आधिक प्रकट करते हैं

धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम्।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि॥
अक्षद्यूत समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्थ च।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रामितुमुत्सहे॥

विधाताके नियोगसे शुभाशुभ वस्तुएं सर्व जीवोंको प्राप्तहोती हैं। फिरभी द्यूत खेलना पडे तो भी इनदोनोंकी निवृत्ति नहीं होसकती। अक्षुद्यूत खेलनेके लिये आह्वान और वहभी एक वृद्ध पुरुषकी आज्ञासे होनेवाला उसका उल्लंघन करने का मैं प्रयत्न नही करता हूं अद्यापि मै जानता हूं कि परिणाममें द्यूत नाशकरने वाली वस्तुहै।

इसपरसे स्पष्ट होता है कि यह स्खलन युधिष्ठिरकी बुद्धिका दोषहै उनकी नीतिकी क्षति नहीं हुईहै। किसी प्रकारका आव्हान होतो उसका स्वीकार करना यह क्षात्रधर्म है, इस वाक्यके आधार

परतो अनेक अनीतिकाभी समर्थन होसकता है। वह वाक्य ठीक नहीं है। उसका स्वीकार करना बुद्धिका दोषहै। इसीलिये युधिष्ठिरके इस स्खलनके विषयमें हमें दया उत्पन्न होती है क्रोध या निंदा भाव नहीं।

निडरतासे सत्यकथन करना एक बड़ा सद्गुण है। विदुरजी के चारित्र्यमें यह विशेष आकर्षक है। उसका एकही उदाहरण देना काफी होगा। द्यूतके लिये बुलावालेकर जब वे जाते हैं, उस समय वह साफ कहते हैं कि हे धर्मराज! द्यूतखेलना बुरी बात है स्वयंमैंने उसके विरुद्ध यत्न कियाहै, तथापि राजाने मुझे भेजाहै और इसलिये मैं आया हूं आपको जैसा योग्य प्रतीत हो करो। अनेकवार धृतराष्ट्रको विदुरजी कहें तथापि सत्य उपदेश देते हैं कि दोष आपके पुत्र दुर्योधनकाही है। पांडवोंको आधाराज्य देना ही चाहिये धृतराष्ट्रको उनकी सत्यताका स्वीकार तो करनाही पडता है परंतु वेचारे सच्चा उत्तर देते हैं कि " मैं क्याकरूं लडका ज़िद्दी है एकका कैसा नैतिकबल दूसरेकी कैसी मानुषीय निर्बलता!

हिंदमें प्राचीन समयमें यह बात मान्यथी कि युद्धके अवसर परभी नीतिका पालन होना जरूरी है। तथापि महाभारतके युद्धके अनेक प्रसंगोंपर नीतिके नियमों का उलंघन होता हुआ हम देखते हैं; उसपरसे हम सहज में कह सकेंगे कि युद्धरूपी बड़ी अनीति जब हो रही हो उस वक्त कैसेभी सभ्य लोग क्यों न हों,

नीतिकापालन होना प्रायः अशक्यही है। परंतु महाभारत में जिन अवसरोंपर नीतिकी अति हुई है उनमेंसे कइ स्थानों में परोक्षरूपमें नीतिका स्वीकार हुवाभी हम देखते हैं। भीष्म को मारने के लिये पांडवोंने शिखंडीको आगे किया और शिखंडी के हाथसे उनपर प्रहार करवाया। कर्ण के रथका पैया खड्डे में फंस गया उस क्षणका लाभ लेकर अर्जुनने अयोग्यरीतिसे उसपर बाण चलाया। भीमने नियम विरुद्ध होकर दुर्योधनकी कमरके नीचे के भागमें गदा प्रहार किया। ये सब घटनाएं साफ़ साफ़ नीतिकी क्षति बतलाती हैं। तथापि " अश्वत्थामाहतः " का प्रसंग क्या प्रदर्शित करता है ? द्रोणको कपटसे मारने के हेतु कृष्णने पांडवोंको सलाहदी कि ऐसा प्रपंच किया जावे जिससे द्रोण हार जाय। वह प्रपंच यह था कि उनका यह निश्चय कराया जाय कि अश्वत्थामाकी मौत हो गई है। अब ऐसा उग्र असत्य युधिष्ठिर जैसे सत्यवादीके मुखसे भला किस तरह निकल सकता था ? कदापि नहीं। असत्यको सत्यका प्रापंचिक रूप दिया गया। अश्वत्थामा नामक हाथी मार डाला गया और पीछे कहा गया कि " हे द्रोण ! अश्वत्थामा मारा गया है (नरोवा कुंजरोवा) फिर मनुष्य हो या हाथी "। यहां अनीतिका अमल होते समयभी नीतिकी महत्ताका स्वीकार प्रत्यक्ष है।

स्त्री पात्रों में द्रौपदी आदिसे अंततक अपने सतीत्व और धैर्य से हमारे चित्रको आकर्षित करती है, और वह आकर्षण उसके

स्वभावमें रहे हुए क्रोध और ईर्ष्या के मानुषीय आवेशों के कारण सर्वथा स्वाभाविक होता है।

कुंतीके व्यक्तित्वमें हमें एक उदात्त आर्य माता का चित्र प्राप्त होता है। विदुलाका आख्यान वर्णनकर जो संदेशा श्रीकृष्णके साथ अपने पुत्रों को भेजा था, उससे उसके चारित्र्यपर होता हुआ प्रकाश हम देख चुके हैं। वह सचमुच एक शूरवीर माता थी। तदुपरांत वह आत्म गौरव की रक्षा करनेवाली सचमुच धर्मनिष्ठ स्त्रीथी। युद्धके अंतमें पांडवों का विजय हुआ। तत्पश्चात् वृद्धराजा धृतराष्ट्र बहुत समय तक हस्तिनापुरमें न रह सका। सब उनके प्रति ऊपरसे बहुतमान प्रदर्शित करते, पर भीम तो उनका खुल्ला अपमान करता था। यह अपमान उनसे सहन न हो सका और उन्होंने बनमें जाने का निश्चय किया। उनके साथ गांधारी कुंती, विदुरजी और संजय भी बनमें गये। इस समय पांडवों को बड़ा शोक हुआ और कुंतीको वनमें जाने से रोकने के लिये उन्होंने सबल आग्रह किया। उन्होंने माताको विनती कीकि " हे माता! तुमने तो संदेशा भेज कर युद्धके लिये हमें उत्साहित किया था उस युद्ध का जो फल अब मिला है, उसका भोग तुमभी हमारे साथ लो, अर्थात् तुम को यहां रहना चाहिये "। जो प्रत्युत्तर कुन्तीने युधिष्ठिर को दियाहै, वह एक आर्यमाता अपने स्वभावका गौरव कैसा समझती है इसबातका अच्छा आलेखन करता है। कुन्तीने कहा " मैंने तुमको मेरे स्वार्थके लिये लडनेको नहीं कहाथा, परंतु तुमको

भीख न मांगनी पड़े, इस लिये कहाथा । मेरे पतिके समयमें मैंने पूरा सुख भोग किया है, अब मुझे उसकी तृष्णा नहीं है " उनके सुंदर शब्द नीचेके श्लोकोमें दिये हैः-

भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तृर्मे विपुलं पुरा ।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ॥
नाहमात्मकलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम् ।
विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत्कृतम् ॥
नाहं राज्यं फलं पुत्राः कामये पुत्रनिर्जितम् ।
पतिलोकानहं पुण्यन् कामये तपसा विभो ॥
श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः ।
तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम् ॥
निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह ।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च ॥

अर्थात् " मैंनेमेरे भर्ताके जीवनकालमें बहुत सुखभोग किया है और मैं अबराज्य सुख भोगना नहीं चाहती । मुझे अबसंतोषहै। अबतो मैं वनमें जाकर गुरुजनकी सेवा करूंगी, और मेरे शरीरका शोषण करूंगी । हे कुरुश्रेष्ठ ! तुमभीमआदिकेसाथ पीछे जाओ । मेरी तुमको यही सलाह है, धर्मेते धीयतां बुद्धिः-धर्ममें तुम्हारी बुद्धि स्थिरहो । और मनस्तु महदस्तुच तुम्हारा मन बड़ाहो, अपनामनउदाररक्खो । "

कैसी सुंदर सलाहै ! क्यासारे " महाभारत " कासार इनदो छोटी परंतु महत्व पूर्ण बातों में नहीं आजाता है ? महाभारतका प्रचंड युद्धही क्या संकुचित मनका और कर्तव्य क्षति का परिणाम नहीं था ? क्या नीतिमात्र का समावेश इन दो महान् विषयोंमें नहीं होता है ?

" **गीता नीति** ":—आर्यों के अध्यात्मग्रंथरत्नोंमें श्री मद्भगवद्गीता एक अत्यंत तेजस्वी और निर्मल हीरेकी तरह चमकती हुई अलग दिखलाई देती है। वह पुस्तक हिंदुओंके बडे भागको दैनिक मानसिक भोजनदेती है। वे उसको पूजते हैं, उसका पठन-करतेहैं और उस के सूत्रों को जीवनके अनेकानेक प्रसंगोंमें काममें लाते हैं। भारतमें और भारतके बाहर उसके अनेक अनुवाद हुए हैं, और उसके रहस्य को समझानेके लिये अनेक टीकाएं और भाष्य लिखे गये हैं। " गीता ": में सर्व उपनिषदोंके रहस्यका समावेश हुआहै। प्रत्येक अध्यायके अंतमें "भगवद्गीता-उपनिषद्" इसनामका दर्शन होता है उसमेंका तत्वज्ञान हिंदुओंके छःहों दर्शन के तत्वज्ञानका साररूप है परंतु वह उस तत्वज्ञानमेंही पर्याप्त नहीं होता है यह बात नीचे दिये हुये तारतम्य से देखी जायगी।

भाष्यकारोंने " गीता " मेंसे भिन्न भिन्न रहस्य निकाले हैं। एक मतानुसार उसमें सामयोग और कर्मसंन्यास प्रतिपादित हुए हैं। श्रीमंत् शंकराचार्य के भाष्य के अनुसार " गीता " में ज्ञान

निष्ठा, संन्यास निष्ठा, कर्म विमुखता अथवा निवृत्तिका लक्ष्य रक्खा गया है। शांकरमत अद्वैतवादका स्वीकार करता है। शंकराचार्य के तत्वज्ञान का मुख्य सिद्धांत यह है कि केवल एक ही तत्व सत्य है और वह ब्रह्म है। सृष्टि के पदार्थों मे नानात्व देखा जाता है वह सत्य नहीं वह तो केवल भास रूप है। उस नानात्व के पीछे एकही तत्व वस्तु है और वह ब्रह्म है। मनुष्य का आत्माभी परब्रह्म रूपही है; वस्तुतः उन दोनों में भेद नहीं है। ऐसा होने से आत्मा और परब्रह्म की एकता का संपूर्ण ज्ञान जिसको होता है, उसीको मोक्षकी सिद्धि हो सकती है। अद्वैत वादका यह तत्व सिद्धांत आचार के एक सिद्धांतसे गाढ़ रूपसे सम्बद्ध है; वह कर्म संन्यास का सिद्धांत है। गृहस्थाश्रम के कर्म जिस तरह करना स्मृतिग्रंथों में लिखा गया है, उस तरह उनको करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, क्यों कि उनके किये विना संन्यास के लिये जिस योग्यता की आवश्यकता है, वह नहीं प्राप्त हो सकती। परंतु उन कर्मों को सदैव किये जानाभी ठीक नहीं है। ब्रह्म से ऐक्य होनेका ज्ञान आचार में परिणत होना चाहिये; और उसको इस प्रकार परिणित करनाही संन्यास ग्रहण करना है। इस तरह शांकरमतमें कर्म मात्रका त्याग कर ज्ञानकी उच्च कोटि के ब्रह्मके साक्षात्कारके अनुभव से मोक्ष सिद्धि होती है। रामानुजमतानुसार "गीता" विशिष्टाद्वैत के साथ संबंध रखती है, इस लिये उस में कर्म योग का प्रतिपादन हुआ है, परंतु आचार

दृष्टि से वासुदेव की भक्ति "गीता" का सार है; इस लिये इस अन्यरीतिसेभी "गीता" निवृत्ति परायण मानी गई है। कर्म दृष्टि से तो अद्वैत वादियोंकी तरह ब्रह्मैक्य का चिंतवन करना या विशिष्टाद्वैतियों की तरह वासुदेवकी भक्ति में तल्लीन होना, इन दोनों का यह एकही परिणाम होता है कि मोक्ष निवृत्ति से साध्य है! मध्व भाष्य "गीता" मेंसे यह अर्थ निकलता है कि निष्काम कर्म गौण है, भक्तिही अंतिम साध्य है। वल्लभाचार्य के सिद्धांत में शुद्ध जीव और परब्रह्म एक है, तथापि उनका संबंध पतंगे और अग्निके संबंध जैसा है। जीव ईश्वरका अलग होगया हुआ अंशहै और विना ईश्वरके अनुग्रह हुए उसका ईश्वरसे ऐक्यहोना अशक्यहै। इसलिये ज्ञान या कर्मयोग इनमेंसे एकभी नहीं, परंतु भक्तियोगही गीताका उपदेशहै, और इसभक्तिको पुष्टिमार्गीय प्रतिपादित करने वाला वल्लभमत सुविदित है। ये और अन्यभाष्यकार "गीता" मेंसे भिन्नभिन्न उपदेशोंको ढूंढ निकालते हैं।

"गीता" का उपदेश किन संयोगों में श्रीकृष्णने अर्जुन को किया और उस उपदेशमेंभी किसबातपर समय समयपर भार दिया गया है, इनबातोंका स्वतंत्र रीतिसे निरूपण करनेपर 'गीता' का उपदेश कर्मयोग होना अधिक संभवित मालूम होता है। "गीता" में संन्यास, भक्ति, ज्ञान, आदि विषयों के वचन अवश्यहैं, परंतु उसकामुख्य उद्देश निष्काम कर्मकी प्रेरणा करनाहीथा। जिसजिस परिस्थितिमें मनुष्य को जोजो कर्तव्य करनेहों उनको

फलेच्छा या किसी और आसक्तिमें लपटाये विना करनाही चाहिये यह " गीता " का मुख्य उद्देश्यहै; और इसप्रकारकी वृत्तिके संबंधमें ज्ञान और भक्ति गौण हैं ।

कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्रपर पांडवों और कौरवों की सेनाएं परस्पर लडने को सज्जखडी थीं उससमय अर्जुनको संसार का मोह उत्पन्न हुआ । कुटुंबी, स्नेही, मित्र, और बंधु वर्ग केविरुद्ध शस्त्र उठाने के कार्यमें अपने क्षात्र कर्तव्यके विषयमें अर्जुन धर्मसंमूढ होकर खडा रहता है । उससमय श्रीकृष्ण उसको कर्तव्य पालनका उपदेश करते हैं कि तूफलाशा न रखकर, परिणामकी परवाह न करते हुए तेरा कर्तव्य करेगा तो उसका कुछभी दोष तुझे न लगेगा; इसकर्तव्यके पालन के विषयमें कई लोगोंका मरण होगा, परंतु तुझे यादरखना चाहिए कि आत्मा अमरहै और तेरा शोक व्यर्थ है; इसलिये तुझको चाहिये कि कर्मका संन्यास न करते हुए तूकर्म योगीहो ।

अर्जुनकहता है " हे श्रीकृष्ण ! मेरे सामने स्वजन खडेहैं, उनको देखकरही मेरा गांडीव मेरेहाथसे गिरपडता है, मेरे गात ठंडें होजाते हैं, मुंह सूखजाता है, मतभ्रमितहो जाताहै मैं स्वजन का वध करके विजयकी इच्छा नहीं करताहूं । मुझे भलेही वे मारडालें तोभी मेरे आचार्य, मेरेगुरुजन, मेरेस्नेही, संबंधियों को सारी पृथ्वीके लियेभी मारना नहीं चाहता । तो फिर क्या केवळ राज्यके लोभसे मैं उनको मारूं ? कुलक्षय एकमहान् दोषहै । इस दोष को

म अपने सिरपर बिलकुल लेना नहीं चाहता। मैंतो नहीं लडूंगा इस अवसर पर आप यह उपदेश करो कि मेरा श्रेय किस बात में हैं"।

श्री कृष्ण इस प्रश्न के उत्तर में जो अतुल उपदेश करते हैं उसमें ज्ञान, भक्ति, संन्यास, कर्म इन सबकी महत्तापर भार अवश्य दिया गया है, परंतु जगह जगहपर इन सबका सार यही निकाला जाता है कि "इसलिये तू युद्ध कर"। "गीता" रूपी कर्म मीमांसा का मुख्य विचारही इसतरह कर्तव्याभिमुख है। नीचे के उल्लेखोंसे इस बातका स्पष्ट ज्ञान होता है :—

"तू शोक करता है और धर्म संमूढ हुवा है, यह सब व्यर्थ है, क्यों तेरा ज्ञान असत्य है। शरीर नाशवंत है, परंतु आत्मा अमर है। इस लिये हे भारत! तू युद्ध कर" (तस्माद् युध्यस्व भारत २, १५)

"क्षत्रिय के लिये धर्म युद्ध करने के अतिरिक्त और कुछभी उचित नहीं है; और इस प्रकार सहजही प्राप्त होने वाला स्वर्ग द्वार—युद्ध—सुखी क्षत्रियों को मिलता है। वह धर्म संग्राम तुझे प्राप्त हुआ है। अगर तू न लड़ेगा तो तेरे स्वधर्म का और कीर्ति का नाश हो जायगा, और तू पापिष्ट बनेगा। .... यदि इसमें तेरी मृत्युभी होगी तो स्वर्ग मिलेगा और जीता रहा तो महीका उपभोग करेगा। इसलिये हे कौंतेय! तू युद्ध के लिये

निश्चय कर के उठ "। (तस्मादुत्तिष्ठ कातय युद्धाय कृत निश्चयः- २, ३७)

"कर्म की अपेक्षा बुद्धि उच्चतर है ऐसा कहने पर भी तुम यह घोर कर्म करने लिये मुझे क्यों उपदेश करते हो? यह प्रश्न तृतीय अध्याय के प्रारंभ में अर्जुन कहते हैं। उस अध्याय मेंभी श्री कृष्ण ज्ञान और कर्म के विषयमें मीमांसा करके अंत में कर्म करने की बात पर ही उतर पडते हैं। वे कहते हैं कि "हे अर्जुन! सर्व कर्मों को मुझे अर्पण करके, उन के फल की आशा न रखते हुए, ममत्व का त्याग कर के, तेरे इस ज्वर को छोड युद्ध कर" (निराशी र्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ३,३०।)

"मुझे कर्मका लेप नहीं होता है और कर्म के फलके लिये मुझे स्पृहा नहीं है। इस प्रकार जो मुझको जानता है, वह पुरुष कर्म के बंधनमें नहीं फंसताहै। ऐसा समझकर पूर्व कालमेंभी मुमुक्षु अर्थात् मोक्षकी इच्छा रखनेवाले लोगोंने कर्म कियेहीथे, इसलिये पूर्वकालके लोगोंके किये हुए कर्मोंको तूकर" (कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् ४, १५)

ज्ञानका महत्व दिखलाकर उस ज्ञानका परिपाक संन्यासमें होने देकर आशारहित कर्म स्रोतमें बहानेकाभी श्री कृष्णका उपदेश चौथे अध्यायके अंतके श्लोकमें साररूप लियागया है

"इसलिये अज्ञानसे तेरे अंतःकरणमें उत्पन्न होनेवाले संशय

काज्ञान रूपी तलवारसे छेदनकर तूयोगका आश्रयले; और हे भारत ! तू उठ, युद्धके लिये खड़ाहो "। (छित्त्वैनं संशयंयोगम-तिष्ठोत्तिष्ठ भारत, ४, ४२;)

" कर्म संन्यास और कर्मयोग दोनों मोक्षप्रद हैं; उनमेंभी कर्मयोग विशेष है, अर्थात् बढकरहै (तयोस्तुकर्म संन्यासात् कर्मयोगो बिशिष्यते ५, २)

तपस्वीकी अपेक्षा योगी कधिकहै, ज्ञानीकी अपेक्षाभी वह अधिक है। अतः हे अर्जुन ! तू योगीहो; अर्थात् कर्मयोगीहो। (कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगीभवार्जुन ६, ४६)

" हे अर्जुन मैं लोकका क्षय करने वालाहूं और प्रवृद्ध 'काल' हूं। मैं इसलोकका संहार करने को प्रवृत्त हुआहूं । तू नहीं लडेगा तोभी वे सबयाद्धागण मरेंगे तो अवष्य। तुझे तो केवल निमित्त होनाहै। अतः तू युद्धकर और जय प्राप्तकर ' (तस्मात्त्व मुत्तिष्ठायशो लभस्वजित्वाशत्रन्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ११, ३३)

इस प्रकार जगह जगहपर " युद्धकर कर्मकर यहजोर दिया गयाहै। अंतमें अठारहवें अध्यायमें श्रीकृष्ण अर्जुनसे पूछते हैं कि क्यों अवतेरा अज्ञान जनित समोह नष्ट हुआ ?" तव अर्जुन कहता है कि हे अच्युत तुम्हारे प्रसादसे मेरे मोहका नाश हुआ है, और मेरे कर्तव्यकी स्मृति लब्ध हुईहै। मैं गत संदेह हुआहूं तुम्हारे वचनका पालन करूंगा '। सारांश कि " गुरुवध, मित्रवध

पितृवध और पुत्रवध आदिके विचारोंसे मैं सचमुच कर्तव्य विमुख-होगयाथा, परंतु अबमेरा मोह दूर हुआहै, विनाफलाशाके मेरे क्षात्रधर्मका मैं आचरण करूंगा और तुम्हारे वचनों के अनुसार चलूंगा अर्थात् कर्मयोगी बनूंगा "

कर्मयोगीक्या ? कैसा मनुष्य कर्मयोगी कहा जासकता है ? केवल कर्म करनेवाला मनुष्यही कर्मयोगी नहीं है । परंतु कर्म में आसक्ति न रखकर कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मयोगी है । लाभा-लाभका ख़याल नकरते हुए कर्तव्य बुद्धिसे जो मनुष्य कर्म परायण होता है उसको कर्मयोग सिद्ध होता है । कर्तव्य के प्रति वृत्ति विला किसी शर्त के होनी चाहिये, यही इसका नियम है। जर्मन फिलसुफीने कर्तव्यको विलाशर्ती हुकम बताया है उससे "गीता" का कर्मयोग का सिद्धांत बहुत कुछ मिलता है। स्वर्गकी इच्छा सफल करनी हो, अथवा लौकिक सुख प्राप्त करना हो तो हमें सद्गुणी होना चाहिये, यह नियम विलाशर्ती नहीं है। परंतु परिणाम की किसी रीतिसे अपेक्षा या भीति न रखते हुये कर्तव्य करना यह विलाशर्ती हुकम का पालन करने के बराबर है और यही गीताका शिक्षण है । सुख दुःखको समान समझकर लाभा-लाभमें अंतर न जानकर, जयाजय के प्रति दृष्टि न रखकर युद्ध कर, अर्थात् केवल कर्तव्य के लिये कर्तव्य कर, यह उपदेश वारं-वार गीतामें देखा जाता है, और यही कर्मयोग का रहस्य है । "गीता" का नीतिवाद पश्चिम के सुखवाद अथवा उपयुक्तता

वाद के बिल्कुल विमुख है। 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते' कर्म में ही तेरा अधिकार है, यही गीता नीति का मूल सूत्र है; कर्म के विषयमें बुद्धिका इस प्रकारका योग, वही कर्मयोग।

ज्ञानयोग और भक्तियोग–इस प्रकार "गीता" में कर्म अथवा प्रवृत्ति परही जोर दिया हुआ मालूम होता है। साथ ही इसके ज्ञान और भक्ति की महत्ताभी उसके समान आकर्षक रीतिसे प्रदर्शित की गई है। २, ४९ में कहा गया है कि बुद्धियोग से कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, इस लिये तू बुद्धिका शरण ले। जो मनुष्य बुद्धिका शरण लेता है, वह ज्ञान निष्ठ हो जाता है वह स्थित प्रज्ञ कहा जाता है और उसके जीवनका चित्र २, ५२ से अध्यायके अंततक दिया गया है।

अर्जुन कहता है:–"हे केशव समाधिस्थ स्थित प्रज्ञकी क्या भाषा है? मुझे कहो उसका बोलना, बैठना, चलना, कैसा होता है।"

श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं:–"हे पार्थ! जब मनुष्य मनकी सब कामनाओं को छोड देता है, और खुद अपने में ही संतुष्ट रहता है, तब वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है। दुःखसे जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुख के लिये जिसको स्पृहा नहीं होती, और जिसने राग अथवा आसक्ति, भय और क्रोध का त्याग किया है, वह स्थितधी अथवा स्थितप्रज्ञ मनुष्य कहलाता है। जिस मनुष्य का मन सर्वत्र आसक्ति रहित हुआ हो, शुभाशुभ वस्तु मिलने पर

जिस मनुष्य को न तो आनंद होता है न शोक, उस मनुष्यकी प्रज्ञा अथवा बुद्धि स्थिर हुई कहलाती है। जिस प्रकार कछुवा अपने अंगोंको सब ओरसे सिकुड लेता है, उस प्रकार इन्द्रियोंके विषयों से इन्द्रियों को मनुष्य खींचले तब वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है। निराहार मनुष्यके विषय विनिवर्तित हो जाते हैं, पर उन विषयों का रस विनिवर्तित नहीं होता हैं।....इस प्रकार जिसकी इन्द्रिय वशमें हो, उसकी प्रज्ञा स्थिर हुई कहलाती है। विषयका ध्यान करनेवाले मनुष्य का प्रथम उससे संग उत्पन्न होता है, संगसे इच्छा होती है, और इच्छासे क्रोध होता है। (क्योंकि इच्छाका संतोष न होनेसे क्रोध का उद्भव होताहै) क्रोधसे संमोह उत्पन्न होताहै, और संमोहसे स्मृतिविभ्रम; स्मृतिका नाश होने पर बुद्धि-का नाश होताहै और बुद्धि नष्ट होनेपर मनुष्यकी अधोगति होतीहै। ....जो मनुष्ययुक्त नहींहै, अर्थात् जिसने इस प्रकार मनको शिक्षित नहीं किया है, उसको बुद्धि नहीं होती है; जिसको भावना, अर्थात् बुद्धिको स्थिर करनेसे प्राप्त होने वाली भावना भी नहीं होती है; जिसको भावना नहीं होती, उसको शान्तिभी नहीं होती है; और जिसको शांति नहीं होती, उसको कहांसे सुख मिलसकता है.......जो भूतोंयानी प्राणियोंकी रात्रि होती है, उसमें संयमी, अर्थात् प्रज्ञा स्थिर होनेके कारण संयमी होनेवाला पुरुष जगता रहताहै; और जिसमें सबलोग जगते रहतेहैं, वह इस ज्ञान दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्यको रात्रि होती है।

या निशा सर्व भूतानां तस्यांजागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सानिशा पश्यतो मुनेः ॥

जो पुरुष काम अथवा इच्छाओंको छोड़कर निःस्पृह आचार रखता है और जिसको ममत्व वा अहंकार नहींहै उसको शांति मिलती है । हेपार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है; उसको प्राप्त करनेवाला मनुष्य मोहमें नहीं पड़ता है "।

ज्ञानका वल जिसप्रकार " गीता " ४, ३७, में प्रदार्शित हुआ है वैसा अन्यत्र शायदही मिलसके ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

" हे अर्जुन ! जिस प्रकार प्रज्वलित किया हुवा अग्नि लकड़ियों को जलाकर भस्म करदेता है उस प्रकार ज्ञानाग्नि सर्व कर्मों को जलाकर भस्म करदेता है अर्थात् कर्म में आसक्ति हो, ममत्व हो उसका ज्ञान के बलसे नाश होनेपर पवित्रता प्राप्त होती है ।

जो मनुष्य ज्ञान की उच्चकोटि तक नहीं पहुंच सकता है, उसको " गीता " का भक्ति मार्ग आकर्षक जान पड़ता है; और " गीता " प्रदर्शित करती है कि जिस प्रकार ज्ञानसे चित्त शुद्धि शक्य है उसी प्रकार भक्तिसेभी शक्य है । "गीता " की इतने बडे परिणाममें लोकप्रियता होने के कारण उसमें प्रदर्शितकी हुई भक्तिकी

महत्ता है; क्योंकि समाजकी बड़े भाग के लिये चित्त शुद्धिका यदि कोई सरल मार्ग हो, तो वह विशुद्ध भक्ति का ही है। इस संबंधमे नीचे दिये हुए श्लोक विशेष महत्व पूर्ण हैं:—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ ९, २७

"हे कौंतेय तू जो करे, जो खावे, जो आहुति देवे, जो दान करे, वह सब मेरे अर्पण कर"।

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशुचः ॥१८, ६६

"सर्व धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण आ, मैं तुझे सब पापों से विमुक्त करूंगा; तू शोक मत कर"।

सत्व-रजस्—और तमस्—सांख्य और वेदांत के सिद्धांतोंका एकीकरण कर के "गीता" यह सिद्धांत प्रतिपादित करती है कि प्रकृति और पुरुष का द्वैत है ही नहीं। श्री कृष्ण प्रकृति स्वरूप है, और उस प्रकृतिमें सत्व—रजस्—और तमस्, इन तीन गुणों से वस्तु मात्रका मित्रत्व तीन प्रकार होता है। इनमें सत्व गुण श्रेष्ठ है। वह गुण निर्मल होने से प्रकाशमान् और दोष रहित है; वह प्राणिमात्रको सुख और ज्ञानके संगसे बांधता है। रजो गुण रागात्मक है, उससे तृष्णा और संग उत्पन्न होते हैं; और वह गुण प्राणिमात्रको कर्म के संगमें आसक्त करता है। तमोगुण अज्ञानसे

उत्पन्न होता है, और देही मात्रको मोहित कर देता है; वह प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बांध देता है।

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ १४, ९

"सत्व सुखमें और रजस् कर्ममें आसक्ति उत्पन्न करता है; परंतु तमस् तो ज्ञानको ढककर प्रमाद में आसक्ति उत्पन्न करता है।

इस प्रकार "गीता" सांख्य दर्शनसे सत्वकी श्रेष्ठता और तमस् की अधमताका स्वीकार करती है, और इन तीन गुणों के प्राकृतिक भेदसे श्रद्धा, दान, आहार, बुद्धि, कर्म, कर्ता, सुख, आदि में किस प्रकार उत्तमाधम भेद होते हैं, यह प्रदर्शित करती है। दान, कर्म, कर्ता, और सुखके प्राकृतिक भेद, नीतिकी उत्तमाधम कोटियों के भेदों के रूपमें प्रकट होते हैं।

दान—दानकरना मेरा कर्तव्यहै ऐसा मानकर देशकाल और पात्रकी योग्यता का विचार करके, जोदान अनुपकारी मनुष्य को दिया जाताहै वह सात्त्विक दानहै। जोदान उपकारके बदलेमें और फिर फल मिलनेकी आशासे, उद्विग्न मनसे दियाजाय वह राजस दानहै। अयोग्य देशमें अयोग्य कालमें और अयोग्य पात्रको सत्कार कियेबिना; और अपमानके साथजो दानदियाजाय, वह तामसदानहै। (१७, २०-२२)

कर्म—आसक्ति रक्खेविना, रागद्वेषसे विमुख रहकर और

फलाशा न रखते हुए, जो नियतकर्म कियाजाय, वह सात्विक कर्म कहलाता है। जो कर्म फलाशा सहित, अहंकार समेट और बहुत श्रमसे कियाजाय वह राजसकर्म। भविष्यका विचार कियेविना, क्षय, व हिंसा व अपने पौरुषका विचार कियेविना मोहसे जो कर्म कियाजाय, वह है तामसकर्म। (१८, २३—२५)

कर्ता—जो मनुष्य आसक्ति रहितहै, ममत्वबुद्धि नहीं रखता है, जोधृति और उत्साह से समन्वित होकर कार्य की सिद्धि और असिद्धिमें समत्व रखताहै, वह सात्त्विक कर्ताहै। जो रागीहै, कर्म फलकी इच्छा रखता है, लोभी है, हिंसात्मक और अपवित्र है, और जो हर्ष और शोकसे समन्वित है, वह राजसकर्ता है। जिसका चित्त अयुक्त अथवा अस्थिर है, जो प्राकृत अथवा अशिष्ट है, स्तब्ध है, मूढ है, शठ है, उच्छेदक है, आलसी है, विषाद युक्त और दीर्घ सूत्री है, वह तामस कर्ता है (१८-२६-२८)

सुख—जिसके परिचयसे मनुष्य आनंदमें रहता है, जिसमें दुःखका अंत होता है, जो प्रारंभमें विष समान, परंतु अंतमें अमृत समान होता है, वह आत्मनिष्ठ बुद्धिकी प्रसन्नतासे उत्पन्न होनेवाला सात्विक सुख है। जो सुख विषय और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होता है, और जो प्रारंभमें अमृत समान परंतु परिणाममें विष समान होता है, वह राजस सुख है। जो सुख प्रारंभ में एवं अंतमें आत्माको मोहमें डालता है और जो निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है वह तामस सुख है। (१८, २९-३१)

आत्म स्वातंत्र्य और आत्मशासन—जैसे बहुतसे नीति निपुण विचारक इन दोनोंपर नैतिक उन्नतिका आधार मानते हैं वैसा "गीता" मेंभी देखा जाता है। जबतक आत्म शासन नहीं होता है तबतक और सब शासन निरर्थक हैं। "गीता" स्पष्ट रूपसे कहती है कि मनुष्य स्वयं अपना उद्धार कर सकता है, अपना आत्माही आत्माका बंधु है और आत्माही आत्माका रिपु है जिसने अपने आप से अपने को जीता है वह स्वयं अपना बंधु होता है परंतु जो स्वयं अपने को नहीं पहचानता है वह अपने आप अपनाही शत्रु हो जाता है। अर्थात् "तू अपने को पहचानले" तबही आत्मोन्नति सिद्ध होगी, यह जीवन के नैतिक उत्कर्षकी सुंदर जड़ जिस प्रकार अन्यत्र स्वीकृत हुईथी, भारतमेंभी उसका नीचे के श्लोकमें स्वीकार हुआ है

> बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः।
> अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६, ६

ख लोकायतिक अथवा चार्वाकनीति

भारत में जड़वाद का प्राबल्य बहुत कालतक नहीं रहा। जड़वाद बृहस्पति के सूत्रों में दृष्टि गोचर होता है। बृहस्पति के मतानुसार चार्वाकनीति का वर्णन माधवाचार्य के "सर्व दर्शन संग्रह" और शंकराचार्य के "सर्व सिद्धांत संग्रह" में मिलता है। चार्वाकनीति प्राचीन ग्रीसकी (साइरेनइक व एपिक्युरियन) भोगवाद की नीति से बहुत कुछ समानता रखती है।

लौकायतिक पक्ष के तत्व प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है, और चैतन्य जैसे भिन्न तत्वों का स्वीकार नहीं करता है। उन के मन देह ही आत्मा है। "मैंस्थूलहूं" "मैंतरुणहूं" "मैंवृद्धहूं" इनविशेषणों से निर्दिष्ट जो देह है वही आत्मा है, इस के सिवाय और कुछ नहीं है। जिस प्रकार पान खाने से रंग रूपी गुण उत्पन्न होता है उस प्रकार जड़ शरीरके विकाररूप चैतन्य होता है।

जड़ भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्॥ स. सि. संग्रह

इस लोक के अतिरिक्त अन्य कोई लोक नहीं है, स्वर्ग या नरक केवल भ्रम है। शिव लोक आदि अन्य लोकोंकी कल्पना विरुद्ध पक्षवाले धूर्तोंकी कल्पनाही है। इस लोकमें खाने पीनेका उपभोग ही स्वर्ग, शोड़ष वर्षकी स्त्रीका सुखही स्वर्ग, और सूक्ष्म वस्त्र, सुगंध, स्त्रक्, चंदन, आदिका सेवनही स्वर्ग है; और वैरी, शस्त्र, व्याधि, आदिसे जो उपद्रव होता है, वह ही नरक का अनुभव है। प्राणवायुकी गति बंद होने पर मरण होता है उसीका नाम मोक्ष है। इसलिये पंडितोंको यह उचित नहीं कि वे उसको प्राप्त करने का यत्न करें। तप, उपवास, आदिसे केवल मूर्ख लोग ही देह का शोषण करते हैं। इतनाही नहीं परंतु यह जड़वाद नीतिके लेशमात्र शासन का स्वीकार नहीं करता है।

पातिव्रत्या दिसंकेतो बुद्धिमद्दुर्बलैः कृतः॥ स. सि. संग्रह

इस प्रकार पातिव्रत्य की आवश्यकताका भी उसको अस्वीकार है। सुवर्ण आदिका दान संतोंको मिष्टान्न भोजन आदि, स्वार्थी लोगोंने केवल उदर निर्वाहार्थ निर्मितकी हुई बातें हैं। इसी तरह अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदंड, भस्म गुंठन आदि भी दंभकी रचना है।

जब तक जीवन रहे निरकुंशतासे शारीरिकसुख का उपभोग करना, यही इस मतका मुख्य सूत्र है

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ स. द. संग्रह

"जबतक मनुष्य जीता रहे सुखसे जीवन बिताये, और ऋण करके भी घृत पीवे,। देह के भस्मी भूत होने बाद पुनरागमन कहांसे"? सुखादिका भोग जीते जीही ले लेना चाहिये; मरण के पश्चात् उनका अनुभव असंभव है।

यहतो जड़वाद के आधार पर स्थापित की हुई नीति है। यह जड़वाद नास्तिक भी था। चार्वाक स्पष्ट कहता है कि वेदों में जो कुछ कहा गया है, और ब्राह्मणोंने स्वर्ग नरक की जो बातें लिखी हैं वे सब झूठ ही नहीं बल्किधूर्तता है; उदरार्थ उत्पन्न किया हुआ असत्य है।

यह चित्र स्वेच्छानुसारी अनीति के अतिरिक्त और कुछ प्रदर्शित नहीं करता है। लोकायतिक मत का बहुत परिमाणमें या

बहुत समयतक प्रचार नहीं हुआ है। जैन और बौद्ध मतभी नास्तिक तो हैं, तथापि वेभी योग्य रीतिसे लोकायतिकों पर प्रहार करते हैं। उस मतका ऊपर दिया हुआ वर्णन एक प्रकारके ऐतिहासिक कौतूहल को संतुष्ट करने के अतिरिक्त अन्यथा उययोगी नहीं है। इस वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि वह भी एक नीति संबंधी परंतु अनीति प्रवर्तक मार्ग था।

ग जैन नीति

जैन धर्म बहुत प्राचीन है। उस धर्मकी स्थापना ऋषभदेव अथवा आदिनाथने की थी। जैन शास्त्रोंके अनुसार उनके पीछे तेईस तीर्थंकर हुए हैं। उनमें नेमिनाथ पार्श्वनाथ, और महावीर (वर्धमान) अखीर के तीन हैं। नेमिनाथका जन्म द्वारिकामें यादवोंके राजवंश में हुआ था। राजकुमारी राजमतीसे उनका विवाह होनेवाला था; उसी समय उन्होंने संसार का त्याग किया। विवाह के अवसरपर जब उनकी बरात कन्या के गृहकी तरफ जा रही थी, तब उन्होंने पशु दयाजनक आर्तनाद सुना। तलाश करने से मालूम हुआ कि स्वयंउनके और बरातियोंके सत्कार निमित्त उन विवश प्राणियोंका वध होनेवाला था। दयासे नेमिनाथ का हृदय द्रवित हो गया; मनुष्य की स्वार्थमूलक सभ्यता पर उनको तिरस्कार हुआ; और राज्य के आभूषणों को दूर फेंक कर उन्होंने अरण्य के विरक्त जीवनमें शांति ढूंढ ली। गिरिनार

पर्वत पर उनको निर्वाण की प्राप्ति हुई, और वहीं राजकुमारी राजमतीकाभी अवसान हुआ। नेमिनाथका ऐतिहासिक समय निश्चित रूपसे कहना कठिन है। उनके पीछे बहुत वर्षों के बाद पार्श्वनाथ हुए; और लगभग दोसौ पचास बर्ष पीछे महावीर हुए।

महावीर चौवीसवें तीर्थंकर थे। उनका जन्म ईसासे ५९९ वर्ष पहिले उत्तर बिहारमें हुआ था। लगभग अट्ठाईस वर्ष तक कौटुम्बिक जीवन बिताकर अंतमें उन्होंने भी विरक्त जीवनमें शांति ढूंढनेकी इच्छा की। चौदह वर्षतक तप करके मनुष्यों के दुःखों का निवारण करने के निमित्त धर्मोपदेश करना प्रारंभ किया। ईसा से पहले ५५७ से ५२७ तीस वर्ष तक धर्मप्रचार के अंतमें उन्होंने पावापुरीमें निर्वाण प्राप्त किया। यह पावापुरी जैनोंका पवित्र यात्रा स्थल है। जैनधर्मके प्रारंभिक प्रवर्तकोंका वृत्तांत इस प्रकार उपलब्ध हुआ है।

जैन मत में जन्म और ज्ञातिका कुछ महत्त्व नहीं है, कर्महीं सर्वोपरि है, कर्मके नाश करनेसे मोक्ष प्राप्त है। जैन धर्म इन मुख्य बातों में ब्राह्मण धर्मसे भिन्न है। ब्राह्मणोंने जन्मपर मोक्ष का आधार रक्खाथा, जैनोंने जन्मको बिल्कुल अनावश्यक दिख-लायाहै; मनुष्यका किसीभी जातिमें जन्म हुआहो, तथापि वह कर्म का नाशकरे तो मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करसकता है। बुद्ध-धर्मकाभी अंतिम उपदेश मोक्षही है, परंतु उस धर्ममें उसकी

प्राप्ति इच्छा—कामको संयम में रखनेपर निर्भर बतलाई गई है। बुद्ध धर्म में मानसिक शासनको सर्वोपरिता दीगई है और देह दमन अनर्थ कारक प्रतिपादित हुआ है; इसके विरुद्ध जैन धर्म में माना गया है कि कायेक्लेशसही कर्मका नाश संभव है। इस प्रकारका क्लेश सहन करनेवालाही उच्चतम कोटिको पहुंच तीर्थंकर होसकता है।

जिसप्रकार अन्य धर्मोंमें जीवनका मुख्य साध्य मोक्ष माना गया है, उसी प्रकार जैन धर्ममेंभी है। उसके तीन साधन हैं सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, और सम्यक् चरित्र। इन तीनोंको जैन लोग रत्नत्रय का नाम देते हैं।

सम्यग्ज्ञान का अर्थ जैन मतके तत्वोंका ज्ञान होता है। जबतक मनुष्यको सम्यक् अथवा समीचीन ज्ञान न हो तबतक पाप पुण्य क्या, सद्गुण क्या, कौनसे व्रतोंका पालन करना चाहिये इत्यादि बातें वह किस तरह समझ सकता है। स्वयं महावीरने कहा है कि "प्रथम ज्ञान, पश्चात् दया"; क्योंकि ऐसा नहो जीवदयाका अर्थ ही कैसे जाना जाय? जीव क्या यह जाने विना उसके प्रतिदया का आचरण करना असंभव है।

दूसरा रत्न सम्यग् दर्शन है। जैन मत में सम्यग् दर्शन का अर्थ श्रद्धा किया गया है। जैन धर्ममें, जैन मतमें, जैन धर्म ग्रंथमें श्रद्धा हुए विना सद्वर्तन निरर्थक है। जैनलोगोंका कथन है कि

जिस तरह किसी अंकके पहले के बिन्दु (शून्य) का कुछ मूल्य नहीं होता है, उसी तरह जैन धर्म में श्रद्धा हुएविना आचार का भी कुछ मूल्य नहीं है।

तीसरा रत्न सम्यक् चरित्र है। सम्यकचरित्रके साहचर्यके विना समग्र सम्यग् दर्शन निरर्थक है। इसकी प्राप्ति के लिये जैन धर्म में भिन्न भिन्न शासनोंका उपदेश है। इनमें से कुछ्तो गृहस्थ वर्ग अर्थात् श्रावकों के लिये हैं। और कुछ जो अधिक कठिन हैं यतियों या भिक्षुकोंके लिये हैं। यति धर्मका पालन करने वाले जैन का चारित्र्य सर्वांश में संपूर्ण होना चाहिये (सर्वव्रती)। परंतु श्रावक या गृहस्थ धर्म पालने वाले का चारित्र्य अंशतः सम्पूर्ण हो तो दोष नहीं हैं (देशव्रती)। इन दोनों वर्गोंके लिये नीचे दिये हुए भिन्न भिन्न नियम देखने से जैन नीतिका चित्र हमारे समक्ष खडा होता है।

जैन गृहस्थनीति

व्रतोंके पालने में अर्थात् अमुक संयमोंको काम में लानेसे सद्वर्तनका प्रारंभ होता है, और उनसे मोक्षके अंतरायरूपी कर्मों का नाश होसकता है। जैन लोगोंका ऐसा मत होने के कारण जैन नीतिमें अमुक व्रतों का वर्णन किया गया है। "अहिंसा परम धर्म है," इस सूत्रपर उनव्रतोंका आधार है। भूत अर्थात् प्राणिमात्रकी ओर अनुकंपा के ऊपर जैन धर्ममें जितना भार

दिया गया है उतना और किसी धर्म में मिलना कठिन है। एवं जिस विस्तारसे उस सूत्रका जैन धर्ममें अनुसरण हुआ है, वैसा अन्य धर्ममें नहीं देखा जाता है।

गृहस्थके लिये नीचे दिये व्रत हैं:—**पांच अणुव्रत**

(१) प्राणतिपात विरमण व्रत—इस व्रतमें एकसे अधिक इंद्रियवाले किसी भी जीवकी जानबूझकर हिंसा न करनेका शासन है। यहां अहिंसा का अर्थ संकुचित् नहीं, परंतु विस्तीर्ण लेना चाहिये एवं जीव का अर्थ भी वह लेना चाहिए जो जैन तत्त्वज्ञानमें लिया गया है। जैन तत्त्व ज्ञानमें नव तत्त्व माने गये हैं और उनमें जीवका प्रथम स्थान है। इंद्रियोंकी संख्याके अनुसार जीवका पांच विभागों में वर्गीकरण हुआ है। एक इंद्रियवाले (केवल स्पर्शवाले) जीव, दो इन्द्रियवाले, तीन इंद्रियवाले, चार इंद्रियवाले और पांच इंद्रियवाले। एक इंद्रियवाली वस्तुओंमें पृथ्वी (मिट्टी खड़िया, धातु, इत्यादि) तेजस (दीपक, बिजली, चकमक से प्रदीप्त अग्नि इत्यादि), वायु (हवा, आंधी, इत्यादि) और वनस्पति हैं। चुस्त रीतिसे जैन धर्मका पालन करनेवाला मनुष्य एकेंद्रिय जीवकी भी हिंसा न करेगा परंतु इस विषय में गृहस्थ धर्म और यतिधर्ममें भिन्नता है। गृहस्थकी अहिंसानीतिमें एकेंद्रियके अतिरिक्त अन्य किसी जीवकी हिंसा न करना यह शासन है; और यतिकी अहिंसा नीतिका शासन यह है कि एकेंद्रिय जीवकी भी हिंसा न करे। इसी कारण जैन यति मुंह पर कपडा बांधते हैं, क्यों

कि हवा भी जीव है और उसको श्वासद्वारा लेने में जहां तक संभवहो कमहिंसा या दुःख होना चाहिये। अहिंसाका अर्थ केवल यही नहीं लिया है कि वध न करना, परंतु दुःख न देना यह उसका विस्तीर्ण अर्थ है। प्राणी की अहिंसा में पांच दोषों के वर्जनका समावेश हुआ है—किसी प्राणी को सख्त बांधना, निर्दयतासे प्रहार करना, शरीरके अंगोंको काटना शक्तिसे अधिक भार लादना या काम लेना पूरा खाना देने के विषय में लापरवाह रहना।

हिंसा न करना इतनाही नहीं वरिक हिंसा का विचार तक नहीं करना चाहिये। जैन नीतिके अनुसार विचार करना भी कर्म करने के बराबर है।

(२) मृषावाद विरमण दूसरा व्रत है। असत्य एवं अतिशयोक्ति के दोष के विरुद्ध यह व्रत रक्खा गया है। इस व्रतका संकल्प नीचे दिये हुए शब्दो से होता है:—

"बड़े असत्य जैसे कि (कन्यायाा) वधुओंके संबंध में जमीनकी मालिकी के संवंध में, धरोहर के संबंध में, असत्य न बोलने का मैं व्रत लेता हूं"

उदाहरणः अपनी कन्याका विवाह संबंध करने के हेतु वह जिस अवस्था की हो उससे कम बताना, या वह अधिक सुंदर है, अथवा बद सूरत नहीं है ऐसे वचन का उच्चार नहीं करना चाहिये। गाय या भैंस जितना दूध देती हो, उससे अ-

धिक नहीं बतलाना चाहिये; ज़मीनकी हद बतलाने में गड़बड़ नहीं करनी चाहिये; व्यापारमें अप्रामाणिकता न रखना इत्यादि ।

(३) अदत्तादान विरमणव्रत–अर्थात् जो वस्तु न दीगई हो उसका त्याग करना । भिन्न भिन्न रीतिसे चोरी हो सकती है । किसी रीतिसे चोरी न करना इसका इस व्रतमें समावेश हो जाता है । घरमें से चुरा लेना किसी की गठरी में से कुछ निकाल लेना, राजमार्गपर लूट करना, दूसरे के तालेको कुंजीसे खोल लेना, किसी की गुम हुई वस्तु को दबा लेना इत्यादि । चोरी का माल ख़रीदना या दूसरे को चोरी करने का उत्तेजन देना, य चुंगी के दाम न देना या झूठे माप, या तौल काम में लाना–इ सब बातों का त्याग करना इस अस्तेय व्रतकाही विषय है ।

(४) मैथुनविरमणव्रत–यह चौथा व्रत है । विवाहित जीवन की विशुद्धता के लिये यह व्रत रक्खा गया है । अपक्व अव स्थाकी कन्यासे संभोग करना, विधवा स्त्रीसे विवाह संबंध करना विवाह होनेके पहिले किसी स्त्रीके साथ असद्वर्तन रखना, विवा हकी दलाली करना, इंद्रियों का बिल्कुल नियमन न करना औ असाधु भाषण अर्थात् स्त्रियों के संबंध में अश्लील भाषण करन इन सब बातों का त्याग करना इस व्रत का उद्देश्य है ।

(५) परिग्रह विरमणव्रत—में संसारिक वस्तुओंकी अ मोहको संयम में रखना–इस बातका समावेश होता है । द्र

प्राप्तिसे नहीं परंतु उपयोगकी वस्तुओंकी इच्छाओं को नियम में रखने से मनुष्य द्रव्य के संबंधमें अधिक संतोष रख सकता है यह बात जैन लोग जैसे व्यापारी वर्गको सिखलाने की विशेष आवश्यकता नहीं है। यही इस व्रतका अर्थ है। यह व्रत इस प्रकार का है:—

"नीचे दीहुई वस्तुओंमें से जितना लेना मैंने निश्चित किया है उससे अधिक धारण न करने का मैं व्रत लेता हूं, मकानों या खेतों की अमुक संख्या सोना चांदीका धन और धान्यका अमुक परिणाम, दोपाये या चौपाये प्राणियोंकी अमुक संख्या, घरकी और चीज़ोंका अमुक परिमाण इस मर्यादा के बाहर किसी वस्तुको मैं मेरी न समझूंगा"।

इस व्रत के संबंधमें मिसिस स्टीवन्सन् एक रोचक उदाहरण देती हैं। वह कहती हैं कि इस व्रतके पालने का प्रकार जैन लोग खंभातवासी श्रीयुत् पोपटलाल अमरशी संबंधी एक घटनासे देते हैं। जब वे गरीब थे तब उन्होंने व्रत लियाथा कि वह कदापि ९५००० से अधिक रुपये अपने पास नहीं रक्खूंगा। बाद में व्यापार रोज़गारमें उन्होंने लाखों रुपये कमाये और उस सब धनको अपने व्रतके अनुसार वे पिंजरापोल आदि धर्म के कार्य में खर्च करते रहे"।×

× "दी हार्ट ऑफ जैनिज़म्" पृष्ठ २१०

ये पांच व्रत मुख्य माने जाते हैं; जैन नीतिके अनुसार उनका पालन करना महत्त्व पूर्ण है। उनको सहायता देनेवाले और तीन व्रत हैं। वेगौण हैं। उन तीन गौण व्रतों के नाम दिशि व्रत परिमाण, उपभोग परिभोग परिमाण और अनर्थ दंड व्रत हैं। इनमें से पहला व्रत यह है कि जहां तक संभव हो प्रवास कम करना चाहिये, इससे पापाचरण का प्रदेश संकुचित हो जाता है, और पाप कम होते हैं। यह व्रत साधुओंके लिये नहीं है दूसरा व्रत यह है कि जीवनको जरूरी वस्तुओंकी संख्या की मर्यादा बांध देना, इससे असत्य और स्तेय के पाप रुक जाते हैं। तीसरा यानी अनर्थ दंड का व्रत का हेतु अनर्थ मात्र को अंकुश में रखना है; इस व्रत के पालनमें अनिष्ट विचार करना शास्त्रों के उपयोग के संबंधमें उपेक्षा न करना, अन्य लोगों को असाधु कृत्य करने के लिये न बहकाना इत्यादिबातें आजाती हैं।

इनके उपरांत चार और व्रत भी हैं; इनका सामान्य नाम शिक्षा व्रत है। इन चारोंके अलग अलग नाम ये हैं सामायिक व्रत (अमुक समय ४८; ९६ या इसी हिसाबसे कुछ पलों तक ध्यान रूपी दैनिक कार्य) पोषध व्रत (अमुक अमुक समयपर अमुक उपवास करनेका व्रत) देशावकाशिक व्रत (अमुक हदके बाहर प्रवास करना या न जाना आना, इस व्रत का अधिक नियमन करनेका व्रत) अतिथिसंविभाग व्रत (अतिथियों को साधुओंको जैनधर्म के अविरुद्ध हो ऐसी अन्नादि वस्तुओंका दान करना)।

इन बारह व्रतों में प्रथम के पांच अणु व्रत मुख्य हैं; अन्य सात सहायक रूप हैं। जैनलोग मानते हैं कि इन व्रतों के पालन से मन और शरीर का संयमन हो सकता है और नीतिका पोषण होता है। सांसारिक वस्तुओंमें जिसकी आसक्ति हो उस की वह आसक्ति इन व्रतों से नष्ट होती है, और अंतमें उस राग द्वेष विमुक्त जीवको मोक्ष सुलभ हो जाता है। इन व्रतों के और सूक्ष्म नियम " आचारांग सूत्रमें मिलें गे।

इन व्रतोंका पालन करनेवाला जैन ग्यारह प्रतिमाओं द्वारा उच्चतर कोटिमें प्रवेश कर सकता है, और उस कोटिको पहुंचने पर साधुजीवन के उग्र व्रतका पालन करने योग्य होता है। देह धर्म की भिन्न भिन्न श्रेणियोंका आधार एक बातपर है; वह यह है यद्यपि सत्कर्म करना अच्छा है तथापि कर्म करनाही नहीं उससे अच्छा है। अनेक स्थानपर इस नियम के पालन का प्रमाण मिलता है।

ग्यारह प्रतिमाओंका संक्षिप्त तथा सुंदर वर्णन जगमंदरलाल जैनीने " आउट लाइन्स आफ़ जैनीजम् " में एवं मिसिसस्टी वन्सनने "दिहार्ट आफ जैनिजम" में इस प्रकार दिया हैः—

(१) दर्शन प्रतिमा—प्रत्येक जैन अपने धर्म में ज्ञानके साथ श्रद्धारक्खे; सच्चे तीर्थंकर, सच्चे गुरु, तथा सच्चे धर्म की ओर पूज्य भाव रक्खे।

(२) व्रत प्रतिमा-बारहों व्रतोंका पालन करे और मरण आनेपर उसका शांतिसे स्वीकार करे; समाधि मरण उत्तम है ।

(३) सामायिक प्रतिमा-दिनमें तीनवार ध्यान करे और मनकोभी विशुद्ध करे ।

(४) पोषधोपवास प्रतिमा-अमुक उपवास करे ।

(५) सचित्तत्याग प्रतिमा-चेतन युक्त वस्तुओं के आहार का त्याग करे ।

(६) निशिभोजन त्याग प्रतिमा-रात्रिके समय भोजन न करे असंख्य जीवजंतु सूर्यास्त होनेपर दृष्टि गोचर नहीं होते हैं ।

(७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा-साधुजीवनकी इच्छा रखनेवाला अपनी स्त्रीसे भी दूर रहना सीखे; एवं अपने शरीरपर सुगंध न लगावे या उसको आभूषित न करे; क्योंकि ऐसा करनेसे शायद स्त्रीको उसकी ओर प्रेम भावना हो जाय, और उसमें आसक्त बने ।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—सांसारिक बंधनोंसे विमुक्त होता रहे ।

(९) परिग्रह त्याग प्रतिमा-परिग्रह मात्रका त्याग करे ।

(१०) अनुमति त्याग प्रतिमा—किसी विषय में किसीकी अनुमतिकी इच्छा न करे । सांसारिक बातों में किसी बातकी इच्छा न करे । ऐसी बातोंमें किसीको अनुमति देनेकी इच्छा न करे ।

(११) उद्दिष्ट प्रतिमा--साधुओं के से कपडे पहिनने और किसी धार्मिक स्थानमें रहने के लिये और साधु जीवनके नियमों का पालन करने के लिये तत्पर रहे।

अंतकी तीन प्रतिमाएं साधु या यति जीवनके आरम्भिक व्रत हैं।

इस प्रकार श्रावक अर्थात् गृहस्थ--नीति का पालन करने वाला जैन इन ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करता है, तब वह यति-जीवन में प्रवेश कर सकता है। इस जीवनका शासन अधिक विकट है। उसके पांच व्रत नीचे दिये हैं।

जैन यति के पांच व्रत

(१) अहिंसा--गृहस्थ--जीवनके इस व्रतकी अपेक्षा यति जीवन का यह व्रत अधिक उग्र है, क्योंकि एकेंद्रिय जीवकी हिंसा करना भी यतिके लिये निषिद्ध है। इस व्रत का ठीक ठीक पालन करनेके लिये अमुक भावनाएं अवश्य होनी चाहियें। चलते समयभी यति को इस व्रतका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। जीवहिंसा न हो इसलिये जहां और लोगों के चलनेसे पगडंडी हो गई हो उसपर चलना चाहिये। यति भाषा का व्यवहारभी इस प्रकार करे जिसके परिणाममें झगडा या खून होनेका अंदेशा न हो। वाणीमें मृदुता रखे। भिक्षा ग्रहणके नियमकाभी वह ठीक पालन करे; अन्यथा संभव है कि उसमें कोई जीव प्रवेश करले और

जीवहिंसा हो जाय। खाने की चीज रात्रिको कहीं रक्खे उस समय देख ले कि किसी जीव जंतुको दुःख तो नहीं होता है।

(२) असत्य त्याग–यह व्रत इस प्रकारका है:—

"प्रिय वस्तु, श्रेयस्कर वस्तु और सत्य वस्तु का कथन करना इसका नाम सत्यवक्तृत्व। जो सत्य के साथ श्रेयभी नहीं है वह सत्य नहीं।"

सत्यका यह विचित्र लक्षण है। प्रिय वस्तु, श्रेयस्कर वस्तु और सत्य वस्तुका विरोध संभवित है; ऐसे विरोध के समय क्या करना चाहिये, यह बात इस लक्षणसे स्पष्ट समझना कठिन है। केवल यही सूचित होता है कि, जो सत्य सत्य होने के अतिरिक्त प्रिय और श्रेयस्कर नहो उसका व्यवहार न किया जाय। इस प्रकारके व्यावहारिक उपदेश और वचन केवल जैन धर्म में ही नहीं परंतु ब्राह्मण धर्ममें भी उपलब्ध होते हैं।

(३) अस्तेय व्रत–जो वस्तु हमें नहीं दी गई हो, उसको न लें इस नियमका इस व्रत में समावेश है।

(४) ब्रह्मचर्य व्रत–मन, वचन, और कर्म, इन तीनोंसे सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे।

इस व्रतका ठीक पालन होने के हेतु यति स्त्रियोंसे बातें न करे; स्त्रियों का रूप न देखे; गृहस्थ जीवन में स्त्रियोंसे जो सुखानुभव हुआहो, उसकी कल्पना वा स्मरण न करे; अमित भोजन और अमितपान न करे; अति स्वादिष्ट वस्तु न खाय; और जिस

मकान में स्त्री या नारी जातिका प्राणी या कोई मंडल रहता हो, उस मकान में निवास न करे।

(५) अपरिग्रह व्रत--वस्तु मात्रके प्रति रागका त्याग करे। "यह मेरा, यह मेरा," इस भावनाका नाश करने से परिग्रह का त्याग स्वयं होजावेगा।

सामान्यतः जैननीति ब्राह्मणनीति और बौद्धनीति के समान है। कर्म सिद्धांत का स्वीकार इन तीनोंमें समान रीतिसे हुआ है। परंतु अहिंसापर जैनोंने विशेष भार दिया है। जैन लोगों का कहना है कि, अन्य दर्शनोंमें सत्य के अमुक भिन्न भिन्न अंशोंका शोधन हुआ है। केवल जैन सिद्धांतोंमें सत्य का समग्र निरीक्षण हुआ है। इस संबंध में छः अंधे और हाथी की कथाका उदाहरण वे देते हैं। जिस प्रकार हरएक अंधा हाथी के शरीरके एक भाग पर हाथ रखकर उस भागके वर्णन को सारे हाथी का वर्णन बतलाता है उस प्रकारछः हों दर्शनवाले सत्य के एक अंश को समग्र सत्य मानने की भूल करते हैं। जो अंधा हाथी के कान को छूता है, वह कहता है हाथी बडे छाज सा है जो हाथी के पैर का स्पर्श करता है वह हाथीको बडे गोल खंभसा बतलाता है; इत्यादि भूलें जिस प्रकार होती हैं, उसी प्रकार षडदर्शनोंभी अंश सत्यको समग्र सत्य प्रदर्शित किया है। उदाहरणमें, जीव क्यों बंधनमें आता है, इस विषय को लें। सांख्य दर्शन कहता है कि इस बंधका कारण जीवका प्रकृतिसे संसर्ग होता है।

वेदांतदर्शनानुसार माया वा अविद्याके कारण जीव बद्ध होता है। जैन मतानुसार यह दोनों विचार गलत हैं उसका सिद्धांत है किकर्म के पुद्गल के कारण जीवका बंधन होता है। उस बंधनसे मुक्त होने पर मोक्ष होता है, और मोक्ष होने पर जीव सिद्ध दशाको प्राप्त होता है।

जैन नीतिका रहस्य समझनेके लिये जिस प्रकार हमने उस के बाह्यस्वरूपका अवलोकन किया, उस प्रकार उसका आंतर स्वरूपभी देखना चाहिये। जो व्रत ऊपर निर्दिष्ट हुए हैं, उनका महत्व यह है कि उनसे अमुक आंतर बुद्धि होती है, जिस के द्वारा कर्मका नाश होता है। उस आंतर बुद्धिका रहस्य समझने के लिये जैन तत्त्व ज्ञानकी ओर थोड़ा दृष्टिपात करें।

पुण्य और पाप

जैन दर्शनमें नव तत्त्वोंका स्वीकार हुआ है। उनमें पुण्य और पापकाभी समावेश है। उन दो तत्त्वोंका नीतिसे गाढ संबंध होने के कारण उनका यहां विचार करना उपयुक्त होगा।

जो कर्म अच्छे हों वे पुण्य कहलाते हैं। इन कर्मोंमें किसी को अन्न देना, पानी पिलाना, गृहका दान करना, शयनकी सामग्री देना, इत्यादि कर्मोंकी गणना की गई है। एवं दूसरों को समान देना और शरीर श्रमसे दूसरोंकी सेवा करना और विनययुक्त नमस्कारादि करनाभी उनमें सम्मिलित है।

जो कर्म बुरे हों वे पाप कहलाते हैं। इस कक्षामें अठारह कर्मोंकी गणना है। (१) जीव हिंसा। इस विषय में श्रावकों और यतियोंके लिये नियमकी दृढता का तारतम्य पहिले बतलाया गया है। हिंसा दो प्रकारकी होती है, भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। किसीके प्राण लेनेका या उसको दुःख देनेका विचार करना भाव-हिंसा है; और जड़रीतिसे उसका वध करना द्रव्यहिंसा है।

(२) असत्य या मृषावाद। (३) अदत्त आदान।

(४) ब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (लोभ)। (६) क्रोध। क्रोध महापाप माना गया है। साधारण रीतिसे क्रोध अप्रशस्य ही है, परंतु किसी विशेष अवसरपर प्रशस्य भी होता है, जैसे आलसी शिष्य पर गुरुका क्रोध, और अपराधी पर न्यायाधिश का क्रोध। (७) मान अथवा अभिमान (८) माया अथवा किसी को धोखा देने की वृत्ति। माया या धोखा देना कैसा गंभीर पाप है, यह प्रदर्शित करने के लिये मल्लिनाथ नामके तीर्थंकर का दृष्टांत दिया जाता है। पूर्व जन्म में मल्लिनाथ और उनके पांच साथि-योंने तप करने का व्रत लिया; और तप करना प्रारम्भ किया। मल्लिनाथने अपने साथियोंसे तपमें अधिक बढ जाने की इच्छासे एक अधिक उपवास कर लिया। जब उन साथियोंको यह विदित हुआ, तो वे खिन्न हुए और इस का फल मल्लिनाथ को भी भोगना पडा। क्योंकि यद्यपि किये हुए तपके बलसे वे तीर्थंकर तो अवश्य हुए, तथापि इस माया—धोखेबाज़ी के पाप के कारण

वे स्त्रीरूपमें तीर्थंकर हुए। मल्लिनाथका स्त्री तीर्थंकर होने का यही कारण है (९) लोभ, क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार चांडाल चौकडी माने जाते हैं। ये महान् दुर्गुण हैं। (१०) राग या आसक्ति। (११) द्वेष। (१२) क्लेश (१३) अभ्याख्यान–किसी की बुराई करना। (१४) पैशुन्य–चुगलखोरी। (१५) निंदा–औरोंके दोष देखते रहना। (१६) रति–अरति–दंभसे असत्यका उपयोग करना। (१८) मिथ्यादर्शनशल्य जैनेतर देवोंमें श्रद्धा रखना भी बडा पाप है।

इन पुण्य और पाप कर्मों की गणना नैतिक दृष्टिसे हुई है यह स्पष्ट बात है। परंतु भिन्न भिन्न पुण्य कर्मों और पाप कर्मों के संबंध में वर्गीकरण के नियम नहीं देखे जाते हैं। जो जो कर्म महत्त्व–पूर्ण समझे गये, उनकी केवल गणना हुई मालूम होती।

मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको प्रथम तो कर्मोंको जीव में प्रवेश करने से रोकना चाहिए, और फिर अंदरके कर्मों का नाश करना चाहिये। जिस प्रकार नये पानी का प्रवाह रोकने से एक बड़ा सरोवर शनैः शनैः सूख जाताहै, वैसेही पापकर्म न करने से जीवके संचितकर्म क्रमशः नष्ट होजाते हैं। इस प्रकार कर्मों को रोकने के लिये व्रत और तप बहुत उपयोगी हैं।

जैननीतिका बहुधा निषेध रूपमें आविष्कार हुआ है। जैन गृहस्थ एवं साधुके दैनिक जीवनमें " इसको मतकर " " उसको मतकर " ऐसे निषेधात्मक नियम देखे जाते हैं; क्योंकि जैन–धर्म

का शिक्षण यह है कि कर्म न करने से और कर्म का नाश करने से सिद्धदशा प्राप्त होती है । निषेधात्मक होने परभी प्रोत्साहक नियम यदि जैन नीतिमें कोई हो तो वह अहिंसा का नियम है । यह बात सबको सुविदित है कि जैनलोग पिंजरा पोलों में, प्याऊ लगानेमें अकाल के समय पशुओंका जीव बचानेमें कैसी उदार वृत्ति प्रदर्शित करते है ।

जैनदर्शन नास्तिक है । जैनलोग सगुण या निर्गुण किसी ईश्वर तत्त्वको नहीं मानते । सच्चिदानंदस्वरूप ईश्वरके गुणानुवाद अथवा ऐसे सगुण ईश्वर की भक्तिसे प्रोत्साहित प्रवृत्ति जो हिन्दु धर्म में सुलभ है उसका जैन धर्म में सर्वथा अभाव है। ईश्वरमें श्रद्धा रखने वाले लोगमोक्षका अर्थ ईश्वरसे ऐक्य करते हैं और उसके कारण जो प्रोत्साहन शक्ति वे प्राप्तकर सकते हैं वहभी जैन धर्म में दुर्लभहै । जैन मतमें मोक्ष का अर्थ निवृत्ति का रूप होताहै; और उसके अनुसार जैननीति का रहस्य है । उस नीति के जिस अंशसे जैनतत्व का भारतमें प्रबल प्रभाव हुआ है वह जीवदया अथवा अहिंसा धर्म है, और उसको जितना महत्वदें उतना कमहै ।

घ. बौद्धनीति

बौद्धधर्म और बौद्धनितिके प्रवर्तक सिद्धार्थ गौतम बुद्ध थे । उनका जन्म ईसासे ५५७ वर्ष पहले हुआथा । उनके पिताकानाम शुद्धोदन और माताका नाम महामाया था । उनके पिताकी राजधानी हिमालय की तराई के पास कपिलवस्तु नामक नगरीथी । उस कपिल-

वस्तुके पूर्वमें मगध और पश्चिममें कोसल देश था; और वह काशीसे १०० मीलकी दूरी पर था। इस राजधानीमें सिद्धार्थने अपनी बाल्यावस्था और अंकुरित होती हुई युवावस्था एक राजकुमारकी स्थितिमें व्यतीतकी थी। उन्नीस वर्षकी वयमें उनका विवाह यशोधराके साथ हुआथा। इसके दशवर्ष पीछे उनको एक ऐसा अनुभव हुआ कि जिसके बल जीवनके विषय में उनका तात्त्विक दृष्टिबिंदु एक नई दिशामें परिवर्तित हुआ। एक समय उन्होंने अपने आनंदोद्यानमें एक के बाद दूसरी इसतरह चार घटनाएं देखीं, जिनका इनके मनपर बड़ाभारी प्रभाव पड़ा। प्रथम उन्होंनें जरासे जीर्ण हुये एक मनुष्यकी शारीरिक दुर्दशा देखी; फिर शारीरिक रोगसे पीडित एक और मनुष्यकी दुर्दशा देखी; और फिर सडे हुये एक शव की दुर्दशा देखी। इस संसारमें इन कारणोंसे होती हुई मनुष्यकी दुर्दशाको देख वे चकित हुये। इनके विरुद्ध चौथा दृश्य उन्होंने एक शांत और स्थिर—गति साधुकी उन्नत दशाका देखा। कहते हैं कि इन चार दृश्योंका बोध उनके सेवक और साथी चन्न ने उनको इस प्रकार दिया कि सांसारिक वस्तुएं अनित्यहैं; यौवन, आरोग्य, जीवन, आदि सबका नाश होता है। सिद्धार्थने यहचार वास्तवमें देखे होगें या नहीं, इसबातका निश्चय करना कठिन है। परंतु इस कथा से यह खयाल तो हमें अच्छी तरह हो सकता है कि सिद्धार्थ ने कैसा मानसिक क्षोभ अनुभव किया होगा। इस क्षोभ के परिणाम में एक रात्रिको उन्होंने सांसारिक ग्रंथिका छेदन

किया। मध्यरात्रिके समय उनके शयन मंदिरमें पुष्पोंसे परिवेष्टित बालक पुत्र राहुल के सिरपर हाथ रखकर सोती हुई यशोधराके सौंदर्य को दीपक का मंद प्रकाश द्विगुण प्रकाशमान कर रहाथा। वहां सिद्धार्थ गये, और एक तरफसे जीवन की अनित्यता, जीवनके कष्ट और सांसारिक दुःखोंके विचार से बलवती होती हुई त्याग वृत्ति, और दूसरी तरफ स्नेह का आकर्षण—इनदोनोंने उनके मनको इधर उधर खेंचा होगा और उनको विचित्र मानसिक आन्दोलनोंका अनुमान हुआ होगा। एकपलभरके लिये उनको यहभी इच्छा हुई कि माताकी गोदमेंसे बालक को लेकर एक बार और उसको प्यार करलें; परंतु इस भयसेकि यशोधरा जाग उठेगी, इस अंतिम इच्छा को असंतुष्ट ही रखकर उस स्थान पर उन्होंने अपने सांसारिक नाटक का पर्दा गिरा दिया ।

सिद्धार्थ चल दिये। राज्य वैभव का सुख और स्नेहमयी पत्नी का प्रेम इस प्रकार छोडकर सिद्धार्थ चल दिये। जिस नित्यताको सांसारिक सुखोंमें उन्होंने न पाया, उसका अन्यत्र अन्वेषण करने के निमित्त वे राजा और गृह को छोड वन गामी हुये। वहां उन्होंने प्रथम तत्वज्ञानके अभ्यासमें शांति ढूंढना चाहा। उससे संतुष्ट न होकर शारीरिक तपसे उसको प्राप्त करना चाहा। लगा तार छ वर्ष तक तपसे देहका शोषण किया, और अंतमें निश्चय किया तपसे कुछ लाभ नहीं। फिर एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठकर मनन करने लगे, और उसके परिणाममें वे बुद्ध होगये।

उनको यह ज्ञान हुआकि दुःखमात्रका निवारण शांत, स्नेहमय और साधुतायुक्त जीवनसे सुलभ है । ˜ क्लेशसे मोक्ष साधना नहीं परंतु काम वृत्ति—इच्छाको संयम में रखकर सद्वर्तन का पालन करना जीवनका उद्देश्य है—यह ज्ञान सिद्धार्थ को हुआ। उन्होंने उस ज्ञानका उपदेश करना प्रारंभ किया, और मरण पर्यंत इसधर्म प्रवर्तन का कार्य करते रहे। अस्सीवें वर्षमें उनका देहांत हुआ।

बुद्धका उपदेश क्याथा ? किस प्रकार उन्होंने नीतिको सर्वोपरि स्थानपर स्थापिताकिया ? बौद्ध धर्मानुसार नीतिचित्र का कैसा आलेखन होगा ? बौद्धनीतिका आधार क्याथा और उस नीतिका कितना बल था ? इन प्रश्नोंपर अबहम विचार करें।

बुद्धके उपदेशों का सारांश हमें " धर्मचक्र प्रवर्तकसूत्र " से मिल सकता है। वह सारांश यह है कि शारीरिक उपभोग और शारीरिक तप—यह दोनों अतिक्रमण हैं। जो सांसारिक सुखदुःख से छुटकारा चाहे, उसको मध्यम मार्ग लेना चाहिये। बुद्धका कथन है कि:—

हे भिक्षुको ! जो संसारका त्याग करना चाहे इसको अतिक्रमण मार्गोंका अनुसरण नहीं करना चाहिये। पहला मार्ग शारीरिक भोगों की ओर ले जाता है, दूसरा मार्ग शारीरिक तप है और तीसरा इन दोनोंके बीचका मध्यम मार्ग है "।

चार आर्य सत्यों की ओर विशेषतया ध्यान आकर्षित किया

जाता है। उन सत्यों के नाम बुद्धने यह दिये हैं–दुःख, दुःख समुदय, दुःखनिरोध और दुःख निरोध मार्ग।

जन्म दुःख है; जरा दुःख है; मृत्यु दुख है; अप्रिय वस्तु की प्राप्ति दुःख है; प्रिय वस्तुकी अप्राप्ति दुःख है।

दुःख समुदय–तृष्णा दुःखका कारण है। तृष्णाके विशेष कर तीन भेद हैं-सुखके लिये तृष्णा, जीवन के लिये तृष्णा और संपत्तिके लिये तृष्णा।

दुःख निरोध का सत्य यह है कि तृष्णा का नाश होना चाहिये। इच्छामात्रका सम्पूर्ण नाश होनेसे इच्छा को दूर करने से, इच्छासे विमुख रहने से और इच्छा को मनमें स्थान व अवकाश न देने से दुःख का निरोध होता है।

दुःख निरोध मार्गका सत्य आठ प्रकार के मार्ग ग्रहण करने से सम्पादित होता है। वे आठ मार्ग (आर्य अष्टांगमार्ग) निम्न लिखित हैं:—

सम्यग्दृष्टि–इन सत्योंका सच्चा ज्ञान होना।

सम्यक् संकल्प–परोपकार, दया, आदि विषयक विचार।

सम्यक् वाचा।

सम्यक् कर्म–अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य।

सम्यग् आजीव–आजीविका प्राप्तिका सम्यग्मार्ग।

सम्यग् व्यायाम–मनका योग्यसंयम।

सम्यक् सति–मनकी जाग्रता।

सम्यक् समाधि ।

इन चार सत्योंका स्वीकार करना और इन आठ मार्गोंकी शिक्षा प्राप्त करना यह बुद्ध का मुख्य उपदेश था ।

बौद्धमतमें यह ज्ञानही उपयोगी तत्त्व ज्ञान है, और इस ज्ञानहीके ऊपर नीतिका आधार है। इस मतमें ईश्वर के अस्तित्व का और जीवके एक पदार्थरूप स्वतंत्र अस्तित्वका स्वीकार वर्जा है। जो उपयोगी ज्ञान है वह धर्म का नहीं परंतु नीतिका है; और संसारमें दुःखभी सर्वव्यापकता वस्तुमात्रकी अनित्यताके ज्ञान के आधारपर नीति स्थापित होती है ।

पुनर्जन्म जैसी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि जब जीवका पदार्थ रूपमें अस्तित्वही नहीं है तो फिर दूसरे जन्मतक उसका बना रहना असंभव है। तथापि बौद्ध मतमें कर्मके सिद्धांतका स्वीकार हुआ है । परंतु उस सिद्धांतका जिस तरह ब्राह्मण लोग स्वीकार करते हैं उस तरह बौद्ध लोग नहीं करते हैं । ब्राह्मण धर्म, अर्थात् आस्तिक हिन्दू धर्मका यह सिद्धांत है कि पुनर्जन्म होने पर जीवको पिछले जन्म के कर्मों का फल भोगना पडता है । बुद्धने इस कर्म फलके सिद्धांत का अन्य रीतिसे स्वीकार किया । वे जीवके पुनर्जन्म को नहीं मानते थे । कर्म फलसे वे यह समझते थे कि जैसे एक दीपकसे दूसरा दीपक चलाने पर तेजःपरंपरा बनी रहती है वैसेही एक जीवन के कर्म दूसरे जीवनमें बने रहते हैं । जिस मनुष्यने वासनाओंका त्याग किया है, उसने कर्मकाभी त्याग

किया है और निर्वाण प्राप्त किया है। हिन्दू आस्तिक धर्ममें जो पद मोक्षका है वही बौद्धधर्म में निर्वाणका है। आस्तिक मतमें मोक्षका अर्थ ईश्वरसे एकता होता है। ईश्वर, जीव, स्वर्ग यह भावनाएं मोक्षकी भावनाके अंतर्गत हैं। बुद्ध नास्तिक थे, अतः उनके मतमें सच्चे मोक्षका अनुभव इस जीवनमें ही हो जाता है और वह अनुभव वासना अथवा इच्छाका नाश करने से मिल सकता है। इस स्थितिका नाम **निर्वाण**, और जिस मनुष्यने निर्वाण प्राप्त किया हो वह अर्हत्। प्रत्येक बौद्धके लिये **अर्हत्ता** की दशा आदर्श रूप है। नीतिमान् जीवनका अंतिम लक्ष्य निर्वाण अथवा अर्हत्ता प्राप्त करना है, और उसका साधन वासना का नाश है।

दुःख विषयक तत्त्वज्ञान बौद्ध नीतिके व्यावहारिक तत्त्वों के स्थापन में महत्त्व पूर्ण पद लेता है। जीवन अनित्य है और दुःखसे भरा हुआ है। इस दुःखका अंत किस तरह हो? अविद्याके ध्वंस से, अर्थात् ज्ञान प्राप्तिसे। ऊपर प्रदर्शित किया हुआ मध्यम मार्गका और चार सत्यों का ज्ञान उपयोगी है; इस ज्ञानकी प्राप्तिसे दुःखका नाश होता है।

यदि बुद्ध केवल इस प्रकार का शुष्क नीतिज्ञानही का प्रतिपादन करते तो बौद्ध धर्मका एक समय जितना प्रबल प्रभाव भारतमें पडा था, उतना कदापि नहीं पड़ता। ऊपर बतलाई गई है

ऐसी अर्हत्ताकी प्राप्तिके अंगसें वह प्राप्ति सुलभ हो इस हेतुसे बुद्धने **बौद्धसंघ** की स्थापना की। बुद्ध धर्म और बौद्ध संघ यह तीन उनके धर्म की त्रिपुटी हैं; तीनोंका एक दूसरोंसे गाढ़ संबंध है। बुद्ध का मत था कि दुःखका नाश होना चाहिये; और सांसारिक वासना और दुःखका त्याग भिक्षु जीवनमें हो सकता है। वैसा जीवन संघमें उत्तमतासे व्यतीत हो सकता है; अतः संघजीवनको बुद्धने महत्त्व पूर्ण माना।

बौद्ध संघके शील रक्षण के लिये बुद्धने ये आवश्यक नियम बनाये थे (१) अहिंसाका नियम (२) अस्तेयका नियम। (३) ब्रह्मचर्यका नियम। (४) सत्य का नियम। (५) सुराआदि मादक वस्तु के परिहार का नियम। (६) भोजन के समयोंके बीचमें न खानेका नियम। (७) ऐहिक सुखभोग के विरुद्ध नियम। (८) सुगंधादिलेप और अलंकारादि के उपयोग के विरुद्ध नियम। (९) उच्च तथा आराम मिले ऐसे शयन के विरुद्ध नियम। (१०) धन प्राप्ति के विरुद्ध नियम।

इन नियमों के पहले पांचको भिक्षुलोग सांसारिक जीवन के पालन करनेवालों के लियेभी आवश्यक बतलाते थे। अन्य पांच नियम विशेषतया भिक्षुजीवन के उपयोगी हैं। यह पहले पांच नियम बौद्धनीतिकी तरह ब्राह्मणनीति और जैननीतिमेंभी विद्य-मान है। बौद्धनीतिमें इन दसों नियमोंकी आवश्यकता इस लिये

मानी गई है कि बौद्धमतानुसार संघ जीवनके विना उत्तम जीवन असंभव है बौद्ध संघके संबंधमें दो बातें बौद्ध नीतिपर प्रकाश डालती हैं। यह ठीक है कि बौद्ध संघमें प्रवेश करने की इच्छा रखने वाले मनुष्यको अमुक नियमों का पालन करना पड़ता था। परंतु बौद्धनीति इतनी उदारथी कि जैसे हिन्दू आस्तिक धर्ममें अमुक जातिके लोग धार्मिक कार्यों के अनधिकारी समझे जाते हैं वैसा बौद्ध धर्म में नहीं था। गुलामों को, कर्जदारों को, मुलज़िमों को, और अधम वर्गके लोगों को भी सहर्ष बौद्ध संघमें प्रविष्ठ कर लेतेथे। बौद्धोंने जातिके प्रतिबंधका कभी खयाल नहीं किया है। बुद्धके मुख्य अनुयायियों में कई नीच जातिके थे। उपालि नापित था, साति मच्छीमार और नंद गडरिया। थेरी गाथा में वर्णन की हुई थेरियों की गणनासे मालूम होता है कि उनमें ८½ साढ़े आठ प्रति सैंकड़ा अधम जातिकीथी। इस प्रकार शूद्रोंके प्रति बौद्ध धर्म उदार था। शील और चारित्र्यके सामने जन्म और जाति तुच्छ माने जाते थे। एक ग्रंथमें हम पढते हैं कि "मनुष्य जन्मसे ब्राह्मण नहींभीं है और यह भी नहीं कि वह ब्राह्मण नहीं है; वह कर्मसे ब्राह्मण होता है जन्मसे नहीं जिस तरह कि कुशल कारीगर और व्यापारी जो काम वे करते हैं उससे भिन्न भिन्न उपाधियां पाते हैं"।

दूसरी बात बौद्ध मतमें स्त्री विषयक जो भावना उसको देखनेसे प्रतीत होगी। बौद्ध धर्म स्त्रियोंकी ओर कुछ तिरस्कारकी

भावनाका समर्थन करता है, तथापि स्त्रियोंको संघमें प्रविष्ट होनेका अधिकार था। यह भी बौद्धनीतिकी उदारताका ही परिणाम था।

यहां बौद्धनीति संग्रह की विशेषताओंका विवेचन करना अनावश्यक है; तथापि उनका सरसरी तौरपर वर्णन करना व्यर्थ न होगा। बौद्धधर्मका प्रचार बहुधा बौद्धनीति की छोटी छोटी विशेषताओं के आधार पर हुआथा। नम्रता शांति और अंतः शुद्धता—यह प्रत्येक बौद्धको परमोपयोगी थे। अन्यके मतके लिये सहिष्णुता इन भावनाओंसेही बौद्ध धर्ममें अंकुरित हो सकी थी। जैसे धार्मिक भावनाओंमें, वैसेही व्यावहारिक बातोंमें भी बौद्ध लोक सहिष्णु थे। पर मत सहिष्णुता और पर धर्म सहिष्णुता इन सद्गुणों पर बौद्ध धर्मका भारतमें बड़े विस्तारसे प्रचार करने वाले राजा अशोकने विशेष ध्यान दिया था। विरुद्धके धर्म या पंथकी ओर बौद्ध लोग उदासीन रहते थे। जीवदया या अहिंसा के विषय में भी उतनाही भाव प्रदर्शित करते थे। इस बातका स्वीकार अशोक के जीवन प्रसंगोंमें बारंवार दृष्टिगोचर होता है।

अशोकने बौद्ध धर्मको राजधर्म बनाया जिसके परिणाममें एक समय उस धर्म का प्रचार भारत के बडे भाग में हो गया था। परंतु राज्य का यह अवलंबन नष्ट होने पर, उस धर्मकी सहिष्णु वृत्तिके कारण, एवं ब्राह्मण धर्मके पुनरुज्जीवन के कारण उस धर्मका बडा आघात हुआ और अंतमें नवीं शताब्दिके अनंतर उसका भारतसे नितांत लोप हो गया।

बौद्ध धर्मका आधार निर्बलथा। वह केवल नीतिपरही था। उस नीतिका प्रचलित रहना बौद्ध संघके जीवन की आकर्षकतापर निर्भर था। उस जीवनमें बदी दाखिल होने पर संघ निंदा के पात्र बन गये, और शुद्ध रीतिके अच्छे तत्व—जीव दया और ब्रह्मचर्य—जैन नीतिमें भी वैसे ही महत्त्व पूर्ण माने गये थे इस लिये, एवं जैन नीति भारतमें बनी रह सकी थी इस लिये, नवीं शताब्दि के पीछे बौद्ध उपदेश भारतमें किसी विशेष प्रकारका नैतिक प्रभाव न डाल सका।

इसप्रकरण का साररूप अवलोकनः—हिन्दुनीतिमें कौनकौनसे तत्त्व महत्त्वपूर्णहैं, यह इस प्रकरण में प्रदर्शित होचुका है। इनमेंसे "रामायणनीति" "महाभारतनीति" "गीता-नीति" और "जैननीति" के उपयोगी तत्त्व हिन्दुओंके जीवन में अबतक महत्त्वपूर्ण माने जातेहैं, और भविष्यमें भी माने जावेंगे। भारत जडवाद के विमुखहै, इसलिये चार्वाकनीति यहां घरनहीं करसकी। बौद्धनीतिभी अधिक नहीं ठहरसकी, उसका कारण हमने बतला दिया है कि उसनीतिकी रचना धर्म और तत्त्वज्ञानके सबल आधारपर नहीं हुईथी।

भारत के तत्त्वज्ञानकी दशा ग्रीसदेशके तत्त्वज्ञानकीसी रहीहै। उसका भूतकाल बहुत प्रकाशमयथा, परंतु मध्यकालीन युगमें और आधुनिक समयमें भूतकालमें दिये हुये विचारोंपरही वह तत्त्वज्ञान

निर्भर रहाहै । इतिहास की उत्क्रांति के साथ भारत में धर्मके पंथोंका उद्भव अवश्य हुआहै, परंतु बिल्कुल नया और स्वतंत्र तत्त्वज्ञान या नीतिशास्त्रका उद्भव नहीं हुआहै। अतः यहां प्राचीन नीतिका ही अवलोकन कियागयाहै ।

फलाशारहित कियाहुआ कर्तव्यही सच्चा कर्तव्यहै, यह हिन्दू नीतिका मुख्यसिद्धांत पूर्ण समयमें एवं वर्तमानमेंभी बहुत उपयोगी मानागयाहै । प्रत्येक कर्तव्य परायण हिन्दुमानताहै कि कर्तव्य में कोई व्यतिरेक नहीं होसकता है, और इस विचारको नीतिके ग्रंथभी पुष्टिदेतेहैं । "रामायण" के आदर्श चरित्र और "महाभारत" के व्यावहारिक चित्र अद्यापि हिन्दुओंको नीतिके विषयमें प्रोत्साहित करतेहैं । "जैननीति' का प्रभावभी अबतक बनारहाहै । उसका अहिंसाका सिद्धांत भारतमें सर्वत्र मान्यहै । "गीता" की नीति अधिक बलवत्तर हुईहै और भाष्यकारोंने उसमें से भिन्न भिन्न सार ग्रहण किये हैं । तथापि समाज के बडे भागका लक्ष्य उसमेंसे कर्मयोगका उपदेश ग्रहण करने और उसनीतिको आधुनिक प्रगतिके अनुकूल करनेकी ओरहै ।

गतप्रकरणमें जिन युरोपीय सिद्धांतों का दिग्दर्शन हुआ है, उनमें के बहुतसे आधुनिक समाज के प्रचलित नीतिविचारोंमें कुछअंशमें क्षोभ उत्पन्न कियाहै, और वह क्षोभ विशेष करके उसनीतिका स्वीकार करनेवाले पाश्चात्य लोगोंकी सभ्यताके सहवास

से बलवान हुआहै। उस क्षोभसे उपस्थित होनेवाले कतिपय प्रश्नोंकी चर्चा इस पुस्तक के परिशिष्टमें कीजायगी; और गत एवं इस प्रकरणमें प्रदर्शित किये हुये उत्तम तत्त्वों के आधारपर " नैतिकजीवन " की चर्चा इसके आगे दूसरे भागके छःप्रकरणोंमें की जायगी।

दूसरा भाग

नैतिक जीवन

" Let each of you make up his mind that he will live by what his reason tells him is right, no matter whether it be opposed or approved by any sage, custom or tradition. Think and then act at once. Enough time has been wasted in waiting for Time to solve our problems, Wait no longer but strike and strike home. " (At the Industrial Exhibition, 1902).

* * * *

" It may be the mission of India, clinging fast to the philosophic simplicity of her ethical code to solve the problems which have baffled the best minds of the West,-to build up a sound economic policy along

modern scientific lines and at the same time preserve the simplicity, the dignity, the ethical and spiritual fervour of her people.

His Highness Maharajah Sayajirao Gaekwad.
(At the Industrial Conference, 1906.)

" कोई भी ऋषि, मुनि, रिवाज या रूढि उसके संमत हो या असंमत हो इस बातकी लेश मात्रभी परवाह न करके प्रत्येक मनुष्यको अपनी बुद्धिसे जैसा उचित प्रतीत होता हो वैसा बर्ताव करनेका निश्चय कर लेना चाहिये। बुद्धिपूर्वक विचार करो और फिर उस विचारको कार्यमें परिणत करो। समय हमारी मुसीबतों को अपने आप हल कर देगा, इस श्रद्धासे बेकार बैठे रहने में हम लोगोंने काफी वक्त गंवाया है। अब बैठे मत रहो, परंतु उत्साहसे प्रवृत्तिकी ओर मन लगाओ। "

* * * *

" पश्चिम के उत्तम विचारकों को भी जिन प्रश्नोंने पराजित किया है, उन प्रश्नोंका, हमारी नैतिक भावनाकी तात्त्विक सरलताके सबल आधार पर, निराकरण करना हमारा भारत वासियों का मुख्य कर्तव्य होना चाहिये—अर्थात् आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियोंद्वारा हमारे आर्थिक जीवन की सबल नीतिका हमें संगठन करना चाहिये; एवं हमारे गौरव, सरलता, और नैतिक व आध्यात्मिक उत्साहका भी पालन करना चाहिये। "

श्रीमन्त महाराजा सयाजीराव गायकवाड।

दूसरा भाग
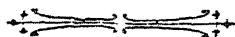
नैतिक जीवन

पहला प्रकरण
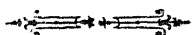
उपोद्घातरूप

जीवनके अंतिम उद्देश्य अथवा आदर्शके संबंधमें हमें चाहे किसीभी विचार पद्धतिका स्वीकारहो तोभी जिस प्रकारका व्यावहारिक जीवन हम व्यतीत करतेहैं उसमें अमुक सद्गुण और चारित्र्यके अच्छे एवं बुरे प्रकार भी दृष्टिगोचर होतेहैं ।

अच्छे नैतिकजीवनके जो लक्षण सुव्यक्तहों, उन्हींका विचार करना उचित होगा । क्योंकि उपदेश करनेकी उत्तमरीति यहहै कि जोअच्छी बातें हों उनका विवेचन करें और उनके दृष्टांत दें, नकि बुरी बातोंका विवेचन करके उनके विरुद्ध निषेधात्मक नीतिपाठ संप्रेषितकरें । इसीतरह नैतिक जीवनका प्रवृत्तिमय जीवनरूपसे विचार करना उचितहै । नैतिक जीवनकी सिद्धि अच्छे कार्य करने से होतीहै, नकि बुरे काम न करनेसे । इस भेदका गौरव " ठाली-

बैठे कुबुद्ध सूझे " इस कहावत द्वारा सबको सुविदित है। परंतु अलग अलग सद्गुणों के संबंधमें साधारण मनुष्योंका ज्ञान अव्यवस्थित और बहुत अपूर्ण होताहै। अतः अबहम जीवनके भिन्न भिन्न पहलुओंका निरीक्षण करके चारित्र्य और वर्तनके अच्छे प्रकार सद्गुणोंद्वारा वर्णन करेंगे। इन सद्गुणोंमें पूर्व और पाश्चिममें और विशेषतः पूर्वमें जो सद्गुण अधिक परिमाणमें देखे जाते हैं उनका हमविवेचन करेंगे और उस विवेचनको पूर्वके प्राचीन धार्मिक और नैतिक पुस्तकों में से उद्धृत कथाओं और वचनों द्वारा समर्थित करेंगे।

साधारणतः मनुष्यके जीवनमें परस्पर संबद्ध कमसेकम तीन पहलू देखेजातेहैं (१) स्वयं इसमनुष्य का चारित्र्य और व्यक्तित्त्व अर्थात् उसके आत्माका हित, (२) जिस समाजमें वह रहता हो उसका, अर्थात् सामाजिक हित, और (३) उस के ईश्वर के साथके संबंध विषयक, अर्थात तात्विक हित। यदि मनुष्य अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहेतो उसको इन तीनों पहलुओंका विचार करना चाहिये। स्वयं अपने को ये तीनों प्रश्न करने चाहियें, कि किस प्रकारकी आत्मोन्नति साधना मेरे लिये इष्ट है? किस प्रकारकी सामाजिक उन्नति साधना मेरे लिये इष्ट है? जीवनके जिस पहलू में आत्मोन्नति या सामाजिक उन्नति स्पष्ट न प्रतीत होती हो उसमें मेरे जीवनके प्रश्नोंके संबंधमें कैसा वर्ताव रखना ठीक है? साधारण जीवनमें पहलेसे तीसरे प्रश्नतक क्रमशः विकास होताहुआ हम देखते

हैं। यह सुविदित है कि बालक साधारणतः स्वार्थी होते हैं। युवावस्था आनेपर समाजके प्रति उत्तरदायित्वकेभावका उदय होने लगता है। वृद्धावस्थामें जीवनकी अनित्यताका ज्यों ज्यों अधिक ज्ञान होता जाताहै, त्यों त्यों मनोवृत्ति अधिकाधिक विस्तृत होती है, और धर्म के आदर्श अधिकाधिक वास्तविक प्रतीत होते हैं। इसविवेचनमें इन सब बातोंका विचार होगा, परंतु विशेष करके पहले दो अधिक महत्व पूर्ण विषयोंपर विशेषतया ध्यान दिया जावेगा।

हिन्दु आश्रमके विभागोंके अनुसार जीवनके आदर्शोंका निरीक्षण करनेसे अमुकामुक अवस्थामें जीवनकी ओर अमुकामुक दृष्टि होनेका ठीक खयाल होगा। शैशवमें मनुष्य औरोंके लालनका विषय होता है। उस समय वह कर्मके कर्त्ता होनेकी अपेक्षा कर्मोंका विषय अधिकतया होताहै। तत्पश्चात् उसके लिये छात्र जीवन का प्रारम्भ यज्ञोपवीत संस्कारसे होता है। विद्याभ्यास के समयमें वह आगामी गृहस्थ-जीवन-यात्राके लिये ज्ञान और नीतिरूपी पाथेय का संग्रह करता है। जीवन प्रवासमें आगे बढ़ने पर विवाह से गृहस्थ जीवनका प्रारम्भ होताहै। इस समय वह अपने कौटुम्बिक जीवनमें एव व्यावहारिक जीवन में सामाजिक संबंधोंमें आताहै; पहले के आश्रमों में वह जिन स्वार्थ-परायण प्रवृत्तियों में रुक रहाथा उनसे अब आगेबढ़ना पडताहै। जीवनके अंतका समय आसन्न आनेपर ईश्वर और भक्तिकी ओर उसकी मनोवृत्ति होतीहै उसको मालूम होताहै, कि कुटुम्ब और समाज उसके समग्र विश्वका

अमुक अंश मात्रहै। जीवनके प्रत्येक अंशमें न्यूनाधिक अंश में सब सद्गुणों की प्रगति होती है। परंतु अमुक गुण किसी एक समयपर प्रवृत्त होतेहैं, और अमुक किसी अन्य समयपर। इसकाभी सविस्तर विवेचन आगे होगा।

अन्यदृष्टिसेभी जीवनके कर्त्तव्यके संबंधमें जीवनके भिन्नभिन्न पहलू प्रदर्शित होसकते हैं। प्रथम प्रत्येक मनुष्यको अपने शरीरके विषयमें कर्तव्य करने होते हैं उसका पोषण करना और उसको आरोग्यमय रखना ऐसा एक कर्तव्य है। इस दृष्टिसे अपना शरीर अपने कपडे अपने काम वगैरा सब स्वच्छ रखना और रूढ होगये हुए अशिष्ट वहेमों के बलसे जिस अस्वच्छता का उत्तेजन होताहो, उसका त्याग करना मनुष्य का कर्तव्य है। दूसरे अपनी बुद्धिके विकास की ओर ध्यानदेनाभी मनुष्यका कर्तव्य है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह बुद्धिमान होनेका प्रयत्नकरे, और जितने विषयोंका होसके सत्य और संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयासकरे। जैसे शरीरको भूखसे कष्टदेना एक पातक है। वैसेही मनमें वहमोंको स्थान देकर बुद्धिकी पुष्टि न करनाभी पातक है। लाखों हिन्दुओंका जीवन ज्ञाति विषयक और धार्मिक आचारों के रूढ विचारों के संबंधमें सुधारकी और विरुद्धता से जड होजाता। इसमें इष्ट परिवर्तन के लिये केवल एकही मार्गहै वह यह कि बुद्धिका—स्वतंत्रबुद्धिका विकास करना एक कर्तव्य मानाजाय। तीसरे, यह बात सुविदित होगी कि ऐसे मनुष्यों की

संख्या अल्पहै जिनको सौंदर्य के मननमें सुखका अनुभव न होताहो सचमुच सौंदर्यकी वृद्धिकरना एवं सौंदर्य के उपचार के प्रसंगोंकी यथोचित वृद्धि करना भी एक कर्तव्य है। उदाहरण में जो मनुष्य गायनमें कुशलहो उसके लिये गाना एक कर्तव्य है, जिस मनुष्यमें कवित्वकी नैसर्गिक शक्तिहो उस के चिन्ह उत्साह-प्रेरक काव्यों की रचना करना एक कर्तव्यहै, इत्यादि। मनुष्य मात्रको सौंदर्यका अनुभव स्वयं प्राप्त करने के और औरोंको वह अनुभव प्राप्त कराने के प्रयासमें सतत बने रहना चाहिये। चौथे, नैतिक चारित्र्य का अपने में अच्छी तरह विकास करना और दुसरोंमें उसका विकास होनेके लिये उनपर प्रभाव डालने का यत्न करनाभी मनुष्यका कर्तव्य है। स्मरण रहे कि बच्चोंका चारित्र्य अच्छा या बुरा होनेमें मातापिता अमुक अंशमें उत्तरदायी अवश्य हैं; भिन्न भिन्न पंक्ति के गुरु उनके शिष्यों के चारित्र्य के लिये अमुक अंशमें उत्तर दायी हैं; और धर्म गुरु व राजाभी लोगों के सामान्य चारित्र्य के लिये कुछ अंशमें उत्तर दायी हैं। इस लिये प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जितने अंशमें बन सके समाजका राजकीय जीवन उत्तम आदर्शों के अनुरूप हो जावे और वैसाही बनारहे, इस बात का प्रयास वह करता रहे। अंतमें धर्म संबंधमें प्रत्येक मनुष्यके अमुक कर्तव्य होते हैं, और वे केवल अपने ही धार्मिक जीवनके संबंधमें नहीं, परंतु धर्म के सामान्य विकास और व्यवस्थाके संबंधमेंभी होते हैं। यदि धर्ममें वहम और हानिकारक आचार विचार रूढ

होजाय, यदि धर्म की और लोग उदासीन हो जाते हैं, और धर्म गुरुओं की अधोगति दृष्टिगोचर होती हो, तो उसका कारण यही होता है कि गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले लोग अपने धार्मिक कर्तव्योंको भूलगये हैं। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह केवल अपनी व्यक्तिगत धार्मिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करकेही संतुष्ट हो न बैठ जाते हुये, धर्मकी सामाजिक आवश्यकताएं क्या हैं इस बातकाभी ध्यान पूर्वक मनन करे। उसका कर्तव्यहै कि वह इस प्रयासमें लगा रहे और देखतारहे कि धार्मिक क्रियाएं और प्रार्थनाएं सम्पूर्ण सभ्यता और पूज्यभावसे होतीहैं या नहीं, और श्रद्धा और आचारों के विषय में जहांतक होसके वहमोंका त्याग होताहै या नहीं।

दूसरा प्रकरण

आज्ञापालन, सत्यवक्तृत्व, दयालुता

बाल्य और छोटी अवस्थाके सब प्रसंगों में नैतिक प्रभाव और नैतिक प्रश्नोंका स्थान सर्वत्र देखाजाताहै। बालक का जन्म होतेही जैसे मातापिताके शिरपर अमुक प्रकारके उत्तर दायित्व आखडे होतेहैं वैसे दूसरी तरफ मातापिताके नैतिक जीवनपरभी उस समय अमुक प्रभाव होता है। साधारणतया बालक आनन्दी और सरल होते हैं। नवीनताकी ओर आकर्षित होना और संबंधीजनोंपर विश्वास रखना, ये उनके स्वाभाविक गुण हैं। नई नई बातें खोजने और

आशावान उत्साहकी ओर उसका लक्ष होता है। और सब बातों की अपेक्षा इन बातों से माता पितापर होनेवाला साधारण प्रभाव कमनहीं होता है। बालकके इस नैतिक स्वभाव का मनुष्य जीवन में एक महत्वकी बात होना नीति और धर्म के उपदेशक प्रायः प्रदर्शित करते हैं। नैतिक जीवन प्रथम अंकुरित होने के विषयमें ईशिया का कथन है कि "एक समय ऐसाभी आवेगा जब एक भेडियेका बच्चा भेड़के बच्चेके साथ एक चीतेकाबच्चा बकरीके बच्चेके साथ और एक सिंहका बच्चा बछड़ेके साथ रहेगा और इन सबको एक छोटासा लड़का ले चलेगा।" इस कथनमें रही हुई सुंदर भावनाका पाश्चिमके पुस्तकोंमें उल्लेख होना कोई आश्चर्यका विषय नहीं है। क्योंकि इसीतरह इसाई धर्मके प्रवर्तक जीसस (ईसा) ने भी बाल्यावस्थाका महत्व इन शब्दोंमें प्रदर्शित किया था। "छोटे बच्चों को मेरे समीप आनेदो; उनको मत रोको; क्योंकि ईश्वरकाराज्य उन्हीं का बना हुआहै। सचमुच मेरा तुमको आदेशहै कि जिस मनुष्यमें बच्चों कीसी निर्दोषता नहीं होगी वह प्रभुके दर्बारमें प्रवेश नहीं करसकेगा।" बाल्यावस्थाके सत्य स्वभाव का संपूर्ण ज्ञान जिसको होगा उसको पुस्तकोंकी अपेक्षा उसमेंसे नीतिके विषयमें बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त होगा; क्योंकि सबल सुखी नैतिक जीवन के बीजरूप जो तत्त्व हैं उनमें का कमसे कम एक तत्त्व बाल्यावस्थामें देखा जाता है। वह यह कि बालकोंका जीवन साधुतामें श्रद्धा रखनेपर निर्भर है और उसी श्रद्धा में वे बड़े होते हैं।

दुर्भाग्यसे बहुतसे मातापिताओंके संबंधमें उनके बालकोंकी बाल्यावस्थामें उपस्थित होनेवाले प्रश्न उनको ऐसे भारी मालूम होते हैं कि जिसके कारण उस अवस्था का नैतिक प्रभाव वह नहीं समझ सकते हैं। इनमेंके मुख्य प्रश्नके संबंधमें कोई ध्यानपूर्वक विचार तक नहीं किया जाता है। परंतु इस पुस्तकमें नैतिक जीवन विषयक सविस्तर विवेचन करते समय वह प्रश्न आरंभसेही महत्त्वपूर्ण है। बालकके जीवनके संबंधमें मुख्य प्रश्न यह है कि साधुता के प्रति उसकी श्रद्धा किस तरह बनी रहेगी। इस श्रद्धाको बनी रखनेके लिये अन्य मनुष्योंको चाहिये कि बालकों की तरफके अपने वर्तनमें वे साधुताका उपयोग करें। यह एक महत्त्व युक्त नियमका स्मरण रहना चाहिये। वह यह है कि आधुनिक नैतिक भावनाकी दृष्टिसे लड़कों और लडकियोंकी ओर के हमारे वर्तनम किसी प्रकारका भिन्नभाव रखना योग्य नहीं। हिन्दुओंके विचार और धार्मिक आचारके अनुसार लड़केको अधिक महत्त्व दिया जाता है। तथापि लड़की की ओरभी वैसेही अच्छे वर्तनका प्रतिषेध होनेके लिये कोई योग्य कारण नहीं है। जो नैतिक गांभीर्य "पत्नी" "माता" "पुत्री" इन शब्दोंमें रहा है वह अन्य शब्दोंमें नहीं देखा जाता। पुरातन अशिष्ट समयोंमें कई प्रजाओंमें लड़कियोंकी बालहत्या की जातीथी। उस दुष्ट रिवाजमें जिस नैतिक दुर्दशाको हम देखते हैं, उसी दुर्दशाके अशका लड़कीकी अपेक्षा लड़केका जन्म होनेपर अधिक हर्षका

होना प्रदर्शित करता है। जिस प्रकार लड़कियोंकी बालहत्याकी ओरकी अभिरुचि, स्त्रीजातिकी स्वाभाविक अधमता विषयक विचारके विरुद्ध नैतिक युद्ध करनेसे नष्ट हुईथी उसी प्रकार इस अभिरुचिका भी नाश हो सकता है। यह एक नैतिक प्रश्न है, और इसपर जितना जोर दिया जाय कम है। भारत के लिये तो यह प्रश्न विशेष महत्त्वका है क्यों कि इस देशकी प्रगतिका आधार अधिकतर उसीके ऊपर रहा है। बालकोंकी ओर मातापिताके क्या कर्तव्य हैं, उनका विवेचन आगे चलकर किया जायगा। इस प्रकरणमें तो बाल्यावस्थामें कौन कौनसे सद्गुण विशेषतया विकसित करना चाहिये, वही बतलाया जायगा।

बाल्य तथा किशोर अवस्थामें मातापिता और शिक्षक जैसा चाहे वैसा प्रभाव डाल सकते हैं। मनुष्य जीवनका और कोई भी ऐसा समय नहीं है, जब मनपर इतना असर हो सके; और इस कारण इन अवस्थाओंमें जिस आसानीसे आदतें डाली जाती हैं अन्य अवस्थामें नहीं डाली जा सकतीं। ऐसे मनुष्य बहुत कम होंगे जो बाल्यावस्थासे पडी हुई आदतें समूल उखाड सकें।

विशेष करके शरीरकी स्वच्छताकी कपडे लत्तों की, और खाने पीने की अच्छी आदतें डालने के लिये यही समय है। इन बातों में दृढ आदतें डालने के लिये प्रारम्भमें मातापिता और शिक्षक स्वयं अच्छा दृष्टांत होकर रहें। उन विषयोंका स्पष्ट और अच्छा शिक्षण दिया जाय। उस शिक्षण को कार्यमें लाने के लिये उनका आग्रह

हो और दिन ब दिन अच्छी आदतें होती रहें उस तरफ उनका ध्यान लगारहे । शरीरको आरोग्य रखना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, और उस आरोग्य का आधार अधिकाशमें नियमित निद्रापर निर्भरहै; इसलिये नियमित निद्राकी आदत आवश्यकहै । बालक को नियमित निद्रा लेनेकी ओर ध्यान दिलाते रहनेसे ऐसी आदत डाली जासकती है । परंतु यहीं न रुककर बालकों के मनपर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करना चाहिये, कि इस नियमितता को वे लगभग धार्मिक कर्तव्यों की तरह बंधनकारक समझें । जहांतक होसके इस आदतका कभी भंग नहीं होने देना चाहिये, यद्यपि वह भंग सहेतुकहो या केवल आनंद के लिये हो । इसी प्रकार नियमित शारीरिक व्यायाम से शरीरको नीरोगी रखना और मनको स्वस्थ रखना भी नैतिक शिक्षाका विषय है । ऐसी आदत पडजाय इस उद्देशसे प्रारंभसेही सतत रूपसे कतिपय विशेष व्यायामों के लिये बालकों का उत्साह बना रखना जरूरी है; जैसेकि खेलकूद, टहलना भागदौड गिलीदंडा, फुटबौल क्रिकेट इत्यादि ।

बालकों में तीन नैतिक गुण अवश्य होने चाहियें और उनकी आदत डालनेका उत्तम समय बाल्यावस्थाही है । वे आदतें भविष्यके जीवन में प्रत्येक समयपर उपयोगी हैं । वे गुण आज्ञाकारित्व सत्य-वक्तृत्व और दयालुता (मानव एवं अधम प्राणियों के प्रति) हैं ।

अधिकारी आदि किसी कामी आज्ञा पालन न करना पड़े ऐसी स्थिति बहुत कम लोगोंकी होती है, संसारमें प्रत्येक मनुष्यको

अपने स्वीकृत उत्तम आदर्शकी और मानका भाव रखना होता है। यह आदर्श चाहे ईश्वरेच्छाके अनुसरण का आदर्श होया नहीं तो भी किसी न किसी आदर्शका अनुसरण प्रत्येक मनुष्य अवश्य करता है। हम संकोचके विना कह सकते हैं कि हमारे तात्त्विक स्वभाव के अनुसार वर्तन रखनेमें ही नीतिका मुख्य लक्षण रहा है। आज्ञाकारित्वका सद्गुण विशेष रूपसे बालकोंके लिये उपयुक्त है; तथापि सर्व मनुष्योंके किसीनीकिसी अवस्थामें कैसीभी मुसीवतोंके बीचमें उसका आचरण आवश्यक है। बालकों को उल्लास पूर्वक आज्ञाकारी रहना चाहिये, और ऐसे उल्लासी आज्ञाकारित्वका उनको शिक्षण होना चाहिये। वह शिक्षण ऐसा होना चाहिये कि जिससे बालकको यह प्रतीत हो जावे कि आज्ञापालनमें मेरा हित है। बडी अवस्थामें सामाजिक व्यवस्थाके रक्षण के निमित्त प्रत्येक मनुष्यको अपने अधिक पदवाले लोगोंकी आज्ञाओंका कुछ-न कुछ अंशमें पालन करना पड़ता है। छोटी छोटी बातोंमेंभी बालककी ओर से आज्ञाकारित्वकी अपेक्षा रखना अवश्य है; क्यों कि ऐसी छोटी छोटी बातोंमें भी आज्ञाकारी रहने से उनकी आज्ञापालन की आदत होजाती है।

भारतवर्ष में बडोंकी ओर पूज्यभाव, पिताके प्रति पुत्रका आज्ञाकारित्व, पतिके लिये पत्नीकी सेवा वृत्ति, गुरुके प्रति शिष्यका आदरभाव ये सब ऐसी प्रकट रीतिसे स्वीकृत हुये हैं कि इस विषय में हिन्दुलोगोंको अधिक शिक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती है।

" आज्ञा गुरुणामविचारणीया " अर्थात् बडोंकी अज्ञापालन किसी प्रकार सोचविचार किये विना ही करना चाहिये यह बात इस देश में परापूर्व से मानी गई है। श्री रामचंद्रजीके आदर्श और उत्कृष्ट जीवन में पुत्रके आज्ञाकारित्वका परिसीमा किसको विदित नहीं है? अयोध्याके राज्यासनका वैभव और विलासोंका त्याग करके केवल पिताकी इच्छाका मान रखने के लिये बनवासके दारुण दुःखोंको जिसने अपने सिर पर उठालिये हों ऐसे त्यागवीर आज्ञाकारी पुत्रका दृष्टांत क्या और किसी देशके इतिहास में हमें मिलसकता है? तुलसीकृत रामायणके नीचे दिये हुए पद इस संबंध में कैसे नीति सूचक और अर्थ गंभीर हैं।

धन्यजन्म जगतीतल तासू। पितुहि प्रमोद चरित सुखजासू॥
चारिपदारथ करतल ताके। प्रियपितु मातु प्राणसम जाके॥

अर्थात् इस संसार में उसका जन्म धन्य है, जिस का चरित सुनकर उसके पिताको प्रमोद या आनंद हो। जिसको माता, पिता प्राणसम प्रिय हैं उसको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चारों पदार्थ सुलभ हैं।

माता कौशल्या श्रीरामचन्द्रजी को कहती हैं कि
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना।
तौ कानन शत अवध समाना॥

अर्थात् जो मनुष्य मातापिता की आज्ञासे वनवास का स्वीकार करता है उसको वनवास में सौ अयोध्याओं के राज्यका सुख मिलता है।

आज्ञाकारित्व का गौरव श्रीरामचन्द्रजी स्वयंनीचे के दोहे में वर्णन करते हैं:—

मातुपिता गुरु स्वामि सिख, शिरधरि कहहि सुभाय।
लहेउ लाभतिन्ह जन्म के न तरु जन्मजग जाय॥

जो मनुष्य माता पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा शिरपर धारण करता है, उसको तीन, जन्मतक अच्छा फल मिलता है, और ऐसा न करनेवाले का जन्म निरर्थक जाता है।

आर्य धर्म और नीतिके अनुसार पत्नी के लिये पति शुश्रूषा ऐसी ही स्तुत्य है। सीता सावित्री आदि के चारित्र्यों में इसके सुशोभित उदाहरण मिलते हैं। कविशिरोमणि कालिदास के शाकुंतल नाटकमें शकुंतला के श्वशुर गृह की ओर विदा होते समय उसको जो उन्नत बोध दिया जाता है उसमें भी यह भावना उत्कृष्ट रूपसे देखी जाती है। नीचे के श्लोककी ओर पाठक महाशयोंका ध्यान आकर्षित किये विना हम नहीं रह सकते:—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः॥
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतया वामाः कुलस्याधयः॥

हे शकुंतला ! श्वशुर गृह में बडों की सेवा करना, सपत्नी जन के प्रति सखी वृत्ति रखना, कदाचित पति तेरे पर रोष करे, तो भी उसका सामना मत करना तेरे सद्भाग्य के कारण गर्वसे मत फूल जाना; इस प्रकार का आचरण करनेवाली युवतियां गृहिणी पदको प्राप्त होती हैं अर्थात् उसको शोभा देती हैं; और सब कुल की अधिरूप अर्थात् रोग रूप हैं ।

इस देश में गुरु शिष्य का संबंधभी सदा गाढ़ और पवित्र गिना गया है । पुरातनकालमें शिष्य गुरु के घर रहकर पढता और विद्यामें पारंगत होने तक ब्रह्मचर्य पालन करके गुरु की शुश्रूषा करता, और ज्ञान प्राप्त करता था । इन संयोगों में गुरु के सतत परिचय के बल से शिष्यका चारित्र्य संगठन बहुत दृढ रीतिसे हो सकता था, साथ ही ज्ञान भी बहुत गहरा होता था और उसका सम्पूर्णता से लाभ होता था । आधुनिक पलटी हुई दशाका विरोध किसको क्षोभकर नहीं होता ? आजकल गुरु शिष्यका संबंध सहवास और पूज्य भाव के दृढ आधार पर न होते हुये, आर्थिक व्यवहार के निर्बल आधार पर अवलंबित है । परिणाम हम क्या देखते हैं ? बहुत कम गुरुओंको शिष्य के जीवन में रस होता है; बहुत कम शिष्य गुरुओंके जीवनकी ओर आकर्षित होते हैं । विद्यालय छोड़ने के बाद शिष्य गुरुओंको प्रायः भूल जाते हैं, यह भी हमें सुविदित है । पूज्य वृत्ति की अपेक्षा टीका या नुकताचीनी करने की वृत्तिका प्राबल्य बढ चला है । जैसे अंध

श्रद्धा किसी प्रकार इष्ट नहीं है, वैसेही अधिकार प्राप्त किये विना टीका वृत्ति धारण करना भी अनिष्ट है। इस दशा में सुधार करने के लिये गुरु शिष्य का जीवन सहवास जहां तक बन सके गाढ़ हो जावे इस प्रकार हमारी शिक्षा पद्धतिमें फेरफार होना इष्ट है। पुरातन कालमें गुरुकी ओर शिष्यकी पूज्य वृत्ति कैसे उच्च प्रकार की रहती थी, और गुरु उस पूज्य वृत्ति के बलसे कैसा शिष्य की ओर आकर्षित होता था, यह, कृष्ण सुदामा और सांदीपनी ऋषि के संबंधमें कवि प्रेमानंद के नीचे दिये हुए वर्णनसे, हमें रम्य रीतिसे प्रकट होता है।

पछी शामलियो बोलिया, तने सांभरे रे;
हांजी नहानपणानी पेर, मने केम वीसरे रे

आपण बे महिना पासे रह्या,तने; हांजी सांदीपनी ऋषिने घेर, मने;
अन्नभिक्षा मागी लावता, तने; हांजी जमता त्रणे भात, मने;
आपण सूता एक साथरे, तने; सुखदुःखनी करता वात, मने;
पाछली रातना जागता, तने; हांजी करता वेदनी धुन्य, मने;
गुरु आपणा गामे गया, तने; हांजी जाचवा कोइक सुन्य, मने;
कामदीधुं गोराणिए, तने; कहो लेई आवोने काष्ठ, मने;
शरीर आपणां उकळ्यां, तने; हांजी माथे ताप्यो अरिष्ट, मने;
स्कन्धे कहोवाडा धर्या, तने; घणुं दूर गया रणछोड, मने;
आपणे वाद वद्या त्रणे बांधवा, तने; हांजी फाडयुं मोटुं खोड—मने;
त्रणे भारा बांध्या दोरडे, तने; हांजी आव्या बार मेह मने·

शीतल वायो वाय घणो, तने; टाढे थरथर ध्रुजे देह, मने;
नदीए पूर आव्युं घणुं, तने, घन वर्ष्यो मूशळधार, मने;
एके दिशा सुझी नहि, तने; थया विजळी तणा चमकार मने;
गुरुजी खोळवा निसर्या, तने; कह्युं स्त्रीने कीधो तें केर मने;
आपणने हृदिया शुं चांपिया, तने; पछी तेडीने लाव्या घेर, मने;

(सुदामाचरित्र)

अर्थः—

" पीछे श्रीकृष्णजी बोले तुझे हमारी बचपनकी बातें तो याद है न; भूल तो नहीं गया ? तू और मैं दोनों सांदीपनी ऋषिके घर दो महीने तक साथ रहेथे। भिक्षा मांगकर अन्न लातेथे। और तीनों भात जीमते थे। हम दोनों एक साथ सोते और सुख दुःख की बातें करते थे। चार घडीके तड़के जगकर वेदकी पद्धति करते थे। एक समय हमारे गुरु किसी मुनिसे याचना करने के लिये गांव गये और गुरुपत्नीने वनसे काष्ठ लानेकी आज्ञा की। शिरपर सूरज तप रहाथा और हमारे शरीर पसीनेसे तर हो गये। कंधों पर कुल्हाडियां रखकर हम बहूत दूर गये और एक बड़ा सूखा दरख्त काटकर उसके टुकडे किये। रस्सीसे उन लकडियों को बांधा; इतनेमें बारहों मेघ आकाशमें चढ़ आये; शीतल वायु जोरसे चलने लगा और ठंडसे हमारा देह धूजने लगा। मूसलधार मेह बरसा, और नदीमें बहुत पूर आया। एक भी दिशा नहीं सूझती थी बिजली चमकने लगी। स्त्रीको यह कहकर कि ' तुमने

बहुत बुरा किया ' हमें ढूंढने निकले। हमको हृदयसे लगाकर घर ले गये। "

सत्य वक्तृत्त्वः—सत्यके लिये मान और असत्यके लिये धिक्कारके भाव के बीज बाल्यावस्थामें बोना चाहिये। बालकका मन भावों से भरा होता है, इसलिये असत्य भाषण की नीचताका अनुभव उसको हो सकता है। किसी प्रकारके दंडसेही असत्यके बुरे परिणाम उसको नहीं समझाये जासकते हैं; परंतु असत्यके विरुद्धके उसके स्वाभाविक भावों को उत्तेजित करनेसे अधिक लाभ होता है। असत्यके लिये मातापिताकी प्रकट अरुचिका बहुत अच्छा असर होता है। सत्य असत्य से उत्पन्न होने वाले अच्छे बुरे बाह्य परिणामोंकी अपेक्षा इस आंतरिक प्रभावका अधिक महत्त्व है। सत्यवक्तृत्त्व ऐसा सद्गुण है, कि उससे मनुष्य अपना आत्म मान बढ़ा सकता है। असत्य बोलनेसे मनुष्यके अंतःकरणमें दुःख और अरुचि उत्पन्न होनी चाहिये।

परंतु सत्यवक्तृत्त्व का गुण केवल बोले हुए या लिखे हुए शब्दोंमेंही परिमित नहीं होता है। मन वचन और कर्म, इन तीनों में सत्य एवं असत्य प्रकाशित होसकते हैं। केवल हमारे चहरे में या दृष्टि में भी सत्य और असत्य का आविष्कार होसकता है। किसी प्रकार किसीको बंचित करनेका प्रयत्न किया कि तुरत असत्य के एक स्वरूपका अस्तित्व हो जाता है। सत्यके किसी अंश को छिपानेसे भी असत्यका आविर्भाव होता है। इसका

परिणाम यह होता है कि जोहम कहते हैं, वह सत्य हो तो भी सुनने वाले को अधिकांशमें असत्यका भान होता है। इसी का नाम अर्धसत्य है। सचकहें तो यह एक प्रकारका गुप्त असत्य है। विशेष रूपसे सत्य बुरे परिणामोंसे बचने के हेतु अथवा किसी प्रकार के प्रत्यक्ष स्थूल लाभके हेतु असत्य व्यवहार किया जाता है। बच्चोंके असत्य भाषाणका कारण सत्य के बुरे परिणामों को न भोगने की इच्छा होता है अर्थात् सत्यमें एक प्रकारका पौरुष है, और असत्यमें भीरुता। सत्य भाषणके पौरुषके और सत्यसे प्राप्य बलके पोषणके लिये एवं असत्यके भीरुत्व और निर्बलताके छेदन के लिये प्रयत्न होना चाहिये।

व्यक्तिजीवनमें सत्यकी जो उपयोगिता है वही सामाजिक जीवनमेंभी है। प्रायः मनुष्य बाह्य आडंबरसे सांसारिक उन्नति प्राप्त करता है, उनके कामोंमें बाह्य सत्वकी अपेक्षा आंतरिक सत्व बहुत कम होता है। यह एक प्रकार का गंभीर सामाजिक वंचन है, और उससे समाजका बहुत अहित होता है। जिस मनुष्यको सत्यप्रिय होता है, वह ऐसे आडंबरसे दूर रहता है। उदाहरण एक सत्य शील व्यापारी अपने मालकी झूठी तारीफ नहीं करता, पुराने मालको नया बताकर नहीं बेचता, सस्ते मालको महंगा बनाकर विक्रय नहीं करता है। व्यवहारमें ऐसा आदमी मिलना अलबत्ता मुश्किल है तथापि ऐसे आदमीको कौन आदर्श रूपनहीं मानता? व्यक्तियों में थोडे बहुत अंशमें रहेहुए सद्गुणों के आधार परही समाज अवलंबित रहता है।

इस प्रकार सत्य वक्तव्य दोतरह आवश्यक है। एकव्यक्ति जीवन में दूसरे समाज जीवनमें। जैसे उससे व्यक्तिजीवन की शुद्धता और एकाग्रता बनी रहती है वैसे उससे सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता और बल बने रहते हैं। प्रत्येक मनुष्यको अपने अंतरात्माकी ओर निष्कपटी रहना नितांत आवश्यक है। असत्यसे जीवनमें विसंगतता होती है; सत्यसे जीवन सुसंगत हो सकता है। सत्यका अर्थ जोवर्तनकी संपूर्ण सुसंगतता कहा जाता है वह उचित है। सत्य परही नैतिक विकास और आत्मबलका आधार है। जैसे पश्चिम के प्रख्यात तत्त्वज्ञ कैंटने प्रदर्शित किया था कि समाजमें मनुष्यका परस्पर विश्वास सत्य के आधार परही है, और सत्यके विना सामाजिक एकता नितान्त असंभव है। इस लिये व्यक्तिकी और समाजकी विशुद्धता और प्रगति इस सद्गुण के साथ गाढ़तासे संलग्न है।

मन वचन और कर्म में सत्यता रखने के विषयमें प्रत्येक देशमें समाजके महान् नीतिचिंतकों और धर्म प्रवर्तकोंने वारंवार ज़ोर देकर बहुत कुछ कहा है और बहुतसी कहावत और लोकोक्तियों में सीधीया टेढ़ी रीतिसे सत्यका उपदेश हमें प्राप्त होता है।

सत्यका सद्गुण के तौरपर प्रत्येक देशमें स्वीकार हुआहै परंतु भारत में उसको सर्व धर्मका मूल माना है। उसीके आधारपर सारे नैतिक जीवनकी विशुद्धता की रचना आर्य मतानुसार की गई है। इसी उच्चभावना का, नीचे के अवतरणों से हमें अनुभव होताहै।

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
नहि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥ (महाभारत आदिपर्व)

सत्यसम धर्म नहीं है, सत्य के पर और कुछ नहीं है; असत्य से अधिक कष्टकारक, अधिक तीव्र इस संसारमें कुछ नहीं है।

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ (महा० उ० पर्व)

मनुष्यको इन छःगुणों में से एक का भी कदापि त्याग न करना चाहिये: सत्य, दान, उद्योग, ईर्ष्या–राहितता, क्षमा और धृति।

एवं महाभारतमें आगे चलकर नीचेका सुंदर श्लोक उसी भावनाका उत्तम रीतिसे बोध कराता है:—

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥
(महाभारत, उद्योगपर्व)

हे भारत ! आत्मा रूपी पुण्य तीर्थ नदी है। सत्यरूपी उसमें जल है। धृतिरूपी किनारे हैं। दयारूपी तरंग हैं। उसमें स्नान करनेवाला पुण्यवान् मनुष्य विशुद्ध होता है।

शांति पर्व में भीष्म को युधिष्ठिरने आश्रमियों के अर्थात् गृहस्थों के वर्णन करने लिये विनती की। उस प्रसंग पर जो शांतिपाठ भीष्मने युधिष्ठिरको सिखाया, उससें भी अंत में भीष्मने सत्यपर भार दिया है। भीष्म कहते हैं कि हे. युधिष्ठिर ! मनुष्य-मात्र अपने अपने कर्मों के अनुसार शुभा शुभ फल भोगते हैं।

कर्मके विषयमें मनुष्यको जागृत रहना चाहिये। जो कुछ श्रेयस्कर बात हो उसको आजही करना चाहिये। क्योंकि

नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य नवा कृतम्।

इसने यह काम किया है या नहीं, इसकी प्रतीक्षा करके मृत्यु नहीं ठहरा रहता है; इस लिए हे भारत! कर्म ध्वंस नहोने देना चाहिये।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्॥

इस लिये सत्यसे ही यमको जीतना चाहिये। तुलसीदासजीने भी सत्य विषयक ऐसी उच्च भावना नीचेकी पंक्तियोंमें प्रकट की है:-

धर्म न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुराणबखाना।
मैं सोई धर्म सुलभ करिपावा, तजे तिहूं पर अपयश छावा।

अर्थात्, सत्य समान दूसरा धर्म नहीं है। इस धर्म की आगम निगम और पुराण अर्थात् वेदशास्त्र और पुराणमें प्रशंसा की गई है। मैंने उसी धर्मको सुलभ किया है। उसका त्याग करनेसे अपयश होगा।

सत्यव्रत पालनके अनेक उदाहरण हमें इतिहास पुराणमें अनेक स्थानपर मिलते हैं। सत्य वचन के लिये श्रीरामचन्द्रजीने वनवासके दुःख सहन किये थे, और सत्यके लिये ही स्नेहालु राजा दशरथने पुत्र प्रेमको एक ओर रख प्राणसे भी अधिक प्रिय पुत्रको वनमें भेजाथा। सत्यही के लिये बलि राजाका सारी पृथ्वी

का राज्य छोड़कर पातालको जाना पड़ा था। सत्यही के लिये शूरवीर और तेजस्वी पांडवोंने भी अपना क्रोध, स्वमान, राज्य-लोभ और पति धर्मको भूल कर, राजपाट और रानीको एक शब्दका भी उच्चार किये विना केवल धर्म-बुद्धिसे शत्रुके हाथमें सौंपदिया था। इसी प्रकार केवल सत्यके ही कारण दमयंती जैसी सुकुमार और प्रीतिवश रानीको भयंकर जंगलमें चींथडे हाल अकेली छोड़कर, राजा नलको दासत्व स्वीकार करना पड़ाथा। श्रीकृष्ण को भी सत्यपालनके लिये कुब्जाको अपने घर लाना पड़ा था। राजा हरिश्चन्द्रने सत्यको अनेक विटंबनाए और आपत्तियां सहन कर कैसी दृढतासे निभाया था, आबाल वृद्ध प्रत्येक भारत-वासीको सुविदित है। चांडालके घर स्वयं अपनेको बेचा, अपनी पवित्र पति-परायणा पत्नीको एक विप्रके यहां दासी बनाई, और श्मशान-भूमिपर अपने रत्न-समानपुत्र रोहितके शवको अग्निदाह देनेके कार्यमें अपनी स्त्रीको रोकना पड़ा। इन विकट और करुणा जनक प्रसंगों का तादृश चित्र नाटककी रंगभूमिपर आजकल भी जब उपस्थित किया जाता है, तब कठोरसे कठोर हृदयोंपर भी उनका नैतिक प्रभाव होता हुआ देखा जाता है। जब विश्वामित्रको देनेके लिये राजाके पास कुछ धन न था तब अपने पतिकी मनो-व्यथाको देखकर रानी तारामती अपने को बेचकर धन प्राप्तिके लिये पतिको प्रार्थना करती है। इस प्रसंगका काल्पनिक वर्णन करते हुये कवि प्रेमानन्द उनके प्रख्यात " हरि-

श्चंद्र आख्यान " में निम्न रीतिसे सत्यका गौरव दर्शाते हैं:—

"स्मशान भूमि तजवा योग्य जेवी मानो व्रतभंग आ देहडी तेवी;
अहो पुरुषशार्दूल स्वामिन्, सत्य तजवाथी नथी अन्य हीन.
सर्व शास्त्र केह मोटुं सत्य, ते पाळो गरवी करी गत्य;
मिथ्याभाषी करे भले होम, कान्तिमान होय जेवो सोम.
वेदवेदांगिक मुख पाठ, हारे जेनाथी वसु आठ;
होय दानेश्वरी बलि जेवो, पुन्यवंत जोई प्रल्हाद केवो.
पण ते सर्व मिथ्या मारा नाथ, जो सत्य नव पाळे साक्षात् ;
धर्मशास्त्रमां भाख्युं एम, सत्य भाखे न कोई नेम.
तेवुं दुर्बुद्धिने छे असत्य, नांखे नरके मानो महामत्य."

* * * *

"अहो पुरुष शार्दूल स्वामिन्, व्रतका भंग होनेपर यह देह मानो श्मशान जैसी त्यजने योग्य होती है। सत्य त्यजनेसे और कोई बात अधिक हीन नहीं है। सब शास्त्र सत्यको बड़ा बताते है; इस लिये उसका पालन कर के उच्च गति प्राप्त करो। मिथ्या भावी भलेही होय करे, भलेही वह चन्द्रके समान कान्तिमान् हो, वेदवेदांग उसके मुखाग्रहो वह आठ वस्तुओंसे बढकर हो, बलि जैसा दानेश्वरी हो, प्रल्हाद जैसा पुण्यवान हो परंतु, हे मेरे नाथ! यदि वह साक्षात् सत्यका पालन न करता हो, तो वह सर्व मिथ्या है। धर्म शास्त्रमें कहा है कि सत्य बोलनेवालोंके लिये कोई नियम नहीं है। हे महा मने असत्य दुर्बुद्धि मनुष्यको नरकमें डालता है।

उसी आख्यानमें आगे चलकर कविने कहा है कि:-

" सत्यवडे सविता नभ तपतो, रही सत्ये पृथ्वी भूप;
सत्यधर्म ए सौथी मोटो, छे सत्ये स्वर्गसुख अनुप.
कोई सत्यवादी तोळी जोयुं, त्राजवामां घाली सत्य;
सो अश्वमेधथी अधिक हवुं ते, ए श्रेष्ट मानो महामत्य "

" सत्य से आकाश में सूरज तपता है; हे भूप ! सत्य से पृथ्वी रहती है । सत्यधर्म सबसे बडा है । सत्य में अनुपम स्वर्ग-सुख है । किसी असत्य वादीने सत्यको तराजूमें रखकर उसका तोल किया, तो सौ अश्वमेध से भी वह अधिक हुआ । हे महा-मते ! उसको श्रेष्ठ मानो । "

ब्राह्मण, जैन और बौद्ध-इन तीनों मतों में जिन पांच सद्गुणों को केंद्ररूप माना है, उनमें अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह (त्याग) इन सद्गुणों के साथ सत्यभी है ।

महात्मा कबीर साहिब की नीचेकी दो पंक्तियोंके सत्य विष-यक यह विवेचन यह समर्थित करें गे:—

सत्य बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जा के हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप ॥

इस समर्थनको महाभारतके अनुशासनपर्व के सुंदर भाव पूर्ण श्लोकों से विशेष समर्थितकर के सत्य वक्तृत्व का वर्णन हम समाप्त करेंगे ।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परोधर्मस्तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥

सत्यसे सूर्य तपता है, सत्यसे अग्नि जलता है, सत्यसे देव पितृ एवं ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं; सत्यको परमधर्म कहा है; इस लिये सत्य का लोप न होने दें।

सत्यका गौरव इससे विशेष किस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

दयालुता–भिन्न भिन्न संबंधोंमें दयालुताके विकासका प्रारंभ भी बाल्यावस्थामें होता है। मांबाप और बडोंकी दयालुताका बालक अनुकरण करता है। जाति वर्ग आदि अनेक भेद होनेपर भी, उनका खयाल न रखते हुए, मनुष्यमात्रके प्रति दयाभाव और भ्रातृभाव प्रकट करना हमारा नैतिक कर्तव्य है। यह कर्तव्य केवल दूसरोंको हानि न पहुंचानेमें ही समाप्त नहीं होता है; परंतु दूसरोंका भला करने के लिये प्रयत्न करते रहनाभी हमारा कर्तव्य है। बाल्यावस्थामें यह कर्तव्य कुटुम्बके दूसरे मनुष्योंके अर्थात् माता, पिता, भाई, बहिन आदिके संबंधमें होता है। इसाई धर्मके नैतिक विचारके अनुसार कुटुम्बके अंदर जिस प्रकारका भ्रातृभाव और दयाभाव रक्खा जाता है उसी प्रकारका कुटुम्बके बाहरके मनुष्योंके लिये भी रखना आदर्शरूप माना गया है। इस प्रकार इसाई धर्ममें नीति सामान्यरूपसे

दयालुताके गुणपर आधार–भूत मानी गई है। हमारे धर्मकी "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उत्कृष्ट भावना हमारे जीवनमें ओत प्रोत हो गई है। हमारी दयालुता मानव सृष्टिमें ही संकुचित नरहकर पशु–पक्षियोंके प्रति अहिंसा धर्म की हमारी जगद्विख्यात भावनामें विकसित हुई है।

पाश्चात्य देशों में बहुतसे बच्चोंको पशु पक्षियों के लिये प्रेम भाव होता है और उनको वे अपने मित्रों की तरह खिलाते हैं; परंतु यह कहना पडेगा कि कभी कभी छोटे जीवजन्तुओंके साथ वे क्रूर वर्ताव भी करते हैं। बच्चों में पशुओंके लिये विशेष परिमाणमें प्रेम देखा जाय, तो उस भाव के आधारपर सर्व प्राणियों के लिये दया भाव उनमें विकसित किया जा सकता है। यहां यह खयाल रहे कि जिस परिमाणमें वह दया भाव उन प्राणियों के लिये हितकर है, उतनाही बालकों के लिये भी है। इस दिशामें अच्छी या बुरी जैसी आदत डाली जायगी वैसाही उनके चारित्र्य पर प्रभाव पडेगा। नैतिक दृष्टिसे, पशुओंकी ओर क्रूरता रखनेसे, सामान्य रीतिसे दयालुता और परोपकार वृत्तिका पोषण होता है। दयालुताका केवल यही अर्थ नहीं है कि जीवकी हिंसा नकी जाय या उसको दुःख न दिया जाय; जीवका कुछ कल्याण करने का भी इस अर्थमें समावेश होता है। परंतु यह भी याद रखना चाहिये कि किसी विशेष प्रसंग में मनुष्य के हित और अन्य जीवों के लिये दया भाव इन दोनों में विरोध हो, तो

मनुष्यका हित अधिक मूल्यवान समझा जाय। उदाहरणमें, यदि अमुक जीवों के द्वारा रोग फैलता हो, जैसे चूहों के द्वारा प्लेग अथवा अमुक जीव मनुष्यको हानि पहुंचाने वाले हों जैसे जंगली कुत्ते या ज़हरी सांप तो ऐसे जीवोंका नाश करने के काममें मदद देना नैतिक कर्तव्य है। परंतु ऐसे विशेष प्रसंगोंमें यह नहीं भूलना चाहिये, कि ऐसे जीवोंकानाश करते समय जहांतक संभव हो, उनको कमदुःख दिया जाय। अगर हो सके तो हानि-कारक जीवों की वृद्धिकम हो ऐसे उपाय की योजना करना अधिक अच्छा है। केवल मारने मजे या शिकार के निमित्त निरपराधी जीवोंका नाश करना नीतिके विरुद्ध है।

तीसरा प्रकरण

उद्यम, साहस, सभ्यता, मैत्री, कर्तव्यनिष्ठता।

जिस समय बाल्यावस्था का अंत होता है, और बालक शालामें प्रविष्ठ होता है तबसे जबतक वह गृहस्थाश्रमी होता है तबतक का समय जीवन के किसी अन्य समय से भिन्न मालूम होता है। यद्यपि इस अवस्थामें भीपिछले प्रकरणमें प्रदर्शित किये हुए सद्गुण आवश्यक हैं, तथापि इस अवस्थाके विशेष अनूकूल कुछ अन्य सद्गुण हैं, जिनका सविस्तर विवेचन हम इस प्रकरणमें

करेगें। जबतक बालक पाठशालामें प्रविष्ठ नहीं होता है तबतक यद्यपि वह सद्गुणी है, तथापि हम नहीं कह सकते कि उसका नैतिक भाव सहेतुक है। बाद के जीवनमें ही वह सद्गुणको, सद्गुण होनेके लिये ही प्रेम करना और वह दुर्गुणको दुर्गुण होने के लिये ही धिक्कारना सीखता है। तबही अपने चारित्र्य और आचारका सहेतुक मनन करनेका अवसर उसको प्राप्त होता है। तबही हम उसके प्रशंसा और अवगणना के भावों पर प्रभाव डाल सकते हैं। इतिहास और साहित्यके विषय सिखाते समय उदाहरणोंसे सद्गुणही के लिये सद्गुणका मूल्य निर्धारित करना सिखा सकते हैं।

पाठशाला और कौलेज के जीवनमें, उद्योगी रहनेकी आदत हम डाल सकते हैं। इस समयमें प्रथमसे ही हमें यह ज्ञान होता है, कि हमारा जीवन केवल सुख आर चैन भोगनेके लिये ही नहीं है, किंतु उसमें अमुक प्रकारके उत्तर दायित्व और गंभीर भाव भी है। पाठशालाकी कक्षाओंमें पठितपाठोंपर ध्यान देनेसे उद्योग का अभ्यास होता है इतनाही नहीं परंतु उद्योगकी उस आदत के बलपर केवल शाला—जीवनके ही नहीं बल्कि सारे जीवनके सुखके बीजबोये जा सकते हैं। प्रवृत्ति मय जीवन नैतिक आदर्शका एक उपयोगी और महत्व पूर्ण अंश है। विशेष करके पाश्चात्य देशोंमें तो प्रवृत्ति मार्ग लगभग मोक्ष मार्गका एक स्वरूप माना गया है। उद्यम अथवा प्रवृत्ति पर ही समाजकी भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति का आधार रहा है। उद्यमके बिना भौतिक प्रगति कदापि

प्राप्त नहीं हो सकती; और यद्यपि अमुक व्यक्तिओंके विषयमें यह हो सकता है कि भौतिक उन्नतिसे उनके लिये आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग बंद हो जाय तथापि सामान्य रूपसे मनुष्यके कल्याण के लिये भौतिक प्रगति आवश्यक ही है।

उद्योग से मिलता जुलता बल्कि उद्योगका एक रूपांतर जैसा सद्गुण नियमितता है। छोटी एवं बडी बातों में नियमित रहनेसे मनुष्य अपने जीवनको निश्चित एवं सुव्यवस्थित बना सकता है। नियमितता एक प्रकारका संयम है; एक प्रकारका शासन है एक प्रकारका पालन है। नियमितता सतत श्रमके विना साध्य नहीं है। नियमितता के अभ्याससे उद्योगका अभ्यासभी स्वयं हो जाता है; नियमितताका गुण सीखनेका विशेष समय पाठशाला जीवन है। जो मनुष्य उस जीवनकी छोटी छोटी बातोंमें नियमितताका पालन नहीं कर सकता, वह बड़ा होने पर गंभीर प्रसंगों में भी उस गुणका पालन करने में असमर्थ होता है।

पाठशाला जीवन और कालेज जीवन में ज्ञान संपादन कार्य में उद्यमका उपयोग करना चाहिये। ज्ञान के बीज इस समय में बोने चाहिये और ज्ञान के लिये प्रेम भी उस समय में विकसित करना चाहिये। यदि इस समय ज्ञान ध्यानपूर्वक संपादन किया जाय तो आगे के जीवन में प्रज्ञाका प्रकाश परिपूर्ण रीतिसे हो सकता है। इस पुस्तक में हम पहले देख चुके हैं, कि पश्चिमकी फिलसुफी में कतिपय विचारकोंने ज्ञानकी उत्तम सद्गुणोंमें गणना

की है। सोक्रेटिस जैसे विद्वानने तो यहां तक कहा है ज्ञान और सद्गुण एक ही वस्तु है। तदुपरांत हमने पीछे देखा है कि श्रीमद्भगवद्गीता भी स्थितप्रज्ञ पुरुषको सर्व सद्गुण संपन्न बतलाती है। इसका अर्थ भी हम यह कर सकते हैं, कि ज्ञान और सद्गुण एक वस्तु है। इस अंतिम मतसे संमत न हो, तोभी हरकोई कह सकता है कि ज्ञान संपादन करना एक कर्तव्य है। जहां आलस्य के परिणाम में अज्ञान होता है वहां वह एक पाप के समान है। ज्ञान प्राप्ति के लिये उद्यम करना कुछ अंशमें केवल ज्ञानही के लिये आवश्यक है। परंतु तदुपरांत कुछ अंश में सारासार विवेक बुद्धि प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। ज्ञान के अभाव की दशामें हमारे वर्तनसे कभी कभी हितकी अपेक्षा अहित उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहती है। उदाहरण से, अज्ञान से धर्म के विषय में प्रायः गैर समझ उत्पन्न होती है, और इससे मनुष्य झूठे वहम और ढंगों में श्रद्धा रखने लगता है, जिसके परिणाम में अनेक सामाजिक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। धर्म के बहाने से जातिभेद के कारण यदि हम दूसरों के हितकी सिद्धिमें बाधा डालें तो वह इस प्रकार की गैर समझ है। ज्ञानी मनुष्य हृदय भावों के आवेशसे मार्ग न भूलकर राजकीय सामाजिक और धार्मिक विषयों में द्वेष दूर रखकर समता के संगीन आधार पर अपने वर्तनका निर्माण करता है। वर्तन का ऐसा निर्माण करन के लिये ऐसे प्रश्नों का गहरा अभ्यास नितांत आवश्यक है; और वह अभ्यास उद्यम के

विना न हो सके, यह सुव्यक्त है। यदि श्रम पूर्वक विचार करने की ऐसी आदत आरंभ से न हो तो पीछे से उसका होना प्रायः असंभव है। बडे बडे विचारकों फिलसुफों और धर्म प्रवर्तकों में वहुतसों के जीवन से यह बात पुष्ट होती है।

ठीक देखा जाय तो जहां उद्योग है, वहां प्रामाणिकता, न्याय और स्वमान के भाव जैसे सद्गुण मनुष्य स्वभाव में उत्पन्न हो सकते हैं। इसके विरूद्ध जहां आलस्य है वहां अप्रामाणिकता ठगबाजी, चालाकी चोरी आदि अनेक प्रकार के अन्याय और आत्म गौरव के अभाव का सहज अस्तित्व हो जाता है। अतः नैतिक दृष्टिसे उद्योगकी उपयोगिता का बड़ा महत्व है।

उद्यमकी व्यावहारिक उपयोगिता ऐसी स्पष्ट है कि उसको सिद्ध करने के लिये प्रयत्न करना प्रकाश को प्रकाशित करने के समान है। पाश्चात्य लोगोंकी सब बातों में जो उन्नति देखी जाती है, वह वहुधा उनके उद्योगका ही फल है। वे लोग दैववादी नहीं, परंतु कर्म वादी हैं। दैव को वे बहुत कम मानते हैं। सच कहें तो जिसको हम दैव कहते हैं वहभी हमारे पूर्व के कर्मों का संचित वलही है और वास्तव में दैव वादमें भी कर्म अथवा उद्योग ही रहस्यरूप है। नीचेका श्लोक इस बातका ठीक ज्ञान कराता है।

पूर्व जन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात्पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥

पूर्व जन्म में किये हुए कर्म को दैव कहते हैं, इस लिये पुरुष प्रयत्न के विना दैव सिद्ध नहीं होता।

मनुष्य दैवपर दोष रखते हैं, यह ठीक नहीं। दैव बेचारा क्या कर सकता है? जहां हाथ और पैर न हिलाकर बैठे रहने की आदत हो गई हो, वहां अनेक प्रकार के अनर्थ आपही आप होते हैं, इस में कोई अचरज नहीं है। प्लेग का भयंकर स्वरूप में दौरा हुआहो, और स्थानछोडकर दूसरी जगह जाना बहुत आवश्यक हो, उस समय नसीब पर हाथ रखकर बैठे रहना यमराज को निमंत्रण करने के समान है। कदाचित् यमराज नभी पधारें, तोभी उससे कर्म या पुरुष-प्रयत्नकी अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती है।

प्रायः एक नगर के या एक राज्य के लोग दूसरे नगर या दूसरे राज्य के लोगों की संपत्ति की ईर्षा करते हैं। परंतु वे यह बात भूल जाते हैं, कि संपत्ति भी उद्योग के बलपरही प्राप्त होती है। अहमदाबाद नगर का अभी अभी जो उदय हुआ है यह बहुत अंश में वहां के लोगों के उद्यमी स्वभावपर ही निर्भर है। वहां के लक्षाधिपति सेठ लोगभी अपने कार्य की उन्नति के लिये सुबहसे शामतक चित्त लगाकर अपरिमित परिश्रम करते हैं। साम्राज्यों के उदय और उन्नति की समालोचना करनेसे हमें मालूम होता है, कि जापान जैसा छोटासा देश देखते देखते ही गत पचास वर्ष में सभ्य प्रजाओंमे अग्रगण्य कोटिमें प्रवेश

करसका, उसका कारण केवल वहांके लोगों का उद्योगी आग्रह ही है। जापानी लोगोंने देखाकि पाश्चात्य प्रजा उद्यम से विकसित विज्ञान के बलसे भौतिक उत्कर्ष प्राप्त कर सकी है। उनका अनु-करण करने के लिये और उनकी काम करने की प्रवृति देखने के लिये उन्होंने लगभग सन १८६०-७० ईस्वी के अर्से में जापानी युवकों को बडी संख्या में युरोप अमेरिका भेजा। वे युवक वहांके ऐश आरामसे लुब्ध नहीं होते हुए एकाग्रतासे अपनी कार्य सिद्धिके उद्देश पर स्थित रहे, और उत्तम प्रकार का कलाकौशल प्राप्त करके अपने देशको वापस आये, जिस के परिणाममें जा-पान के देशीय मनुष्यों की ही सहायतासे वहांके कारखाने, रेल्वे, यंत्रालय, आदि देशके लाभार्थ स्थापित हुए। इस के विरुद्ध इस देशमें हम क्या देखते हैं। श्रीमान् सयाजीराव महाराज साहिब जैसे उत्साही राजा, और विख्यात पारसी कोट्याधीश टाटा जैसे सेठ लोग बहुत द्रव्य खर्च कर के आशाजनक युवकों को यूरोप और अमरीका भेजते हैं, तो भी हम प्रायः देखते है कि उनसे अधिक परिमाण में देश को प्रत्यक्ष संगीन लाभ नहीं होता है।

विशेष करके विद्यार्थिओंको उद्यम का महत्व समझने की खास जरूरत है। सब से होशियार विद्यार्थी और सबसे ठोठ विद्यार्थी का अंतर अधिकांश में उद्यम के भेद परही निर्भर है। विद्यार्थी जीवनमें सफलताकी कुंजी उद्यमही है। जब बुद्धिशाली विद्यार्थी प्रायः केवल अपनी बुद्धि पर विश्वास रख बैठते हैं, तब

कम बुद्धिवाले विद्यार्थी सतत श्रम के कारण विद्यार्थी जीवन में और अंत में व्यवहार जीवनमें अच्छी कीर्ति प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि तीव्र होने पर भी यदि उसका श्रमसे विकास न किया जाय, तो वह कुंठित हो जाती है। सोते हुए सिंह के मुंह में उद्यम के बिना शिकार अपने आप प्रवेश नहीं करता है।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशंति मुखे मृगाः।

विद्यार्थिओंके बड़े बड़े मनोरथ दौड़ते हैं. हम महनत करें तो हम यह कह सकते हैं और यह कर सकते हैं; हम इच्छा करें तो बड़े से विचारक और लेखक जैसी कीर्ति संपादन कर सकते हैं हमारे लिये अशक्य नहीं। परंतु वह भूल जाते हैं कि प्रश्न " सकते हैं " का नहीं है परंतु उन बातों के " अमल " का है। कीर्ति प्राप्त करने धनाढ्य होने या वकील बैरिस्टर डाक्टर आदि पेशों में महोन्नति संपादन करने के हवाई किले मनही मन में बांधने का कुछ फल नहीं होता। उनउन्नत आशयों की सिद्धिके लिये सतत प्रयास सतत श्रम नितांत आवश्यक है। आदर्श जितना उच्च रक्खा जावे उतने ही अधिक परिमाण में पूरा श्रम होना चाहिये। श्रम न करना और दैवको दोष देते रहना नैतिक कायरता है।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवं प्रधानमिति का पुरुषा वदन्ति।

दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्नेकृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

उद्योगी पुरुष के पास लक्ष्मी आपही आजाती है। कायर लोकोंका कथन है कि दैवसे वह मिलती है। अतः दैवमें श्रद्धा नरखकर, अपनी शक्तिसे उद्यमकरो, और यदि उद्यम करनेसेभी फलसिद्धि न हुई, तो फिर किसी पर दोष लगानेकी आवश्यकता नहीं रहती।

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।

कार्य उद्यम से सिद्ध होता है, केवल मनोरथसे नहीं। बहुतसे बुद्धिमान् और शक्तिमान् युवान लोग जीवनमें अधिक उन्नति नहीं कर सकते हैं उसका मुख्य कारण उनका आलस्य होता है। वे भूल जाते हैं कि साहित्य, विज्ञान, और तत्त्वज्ञानकी बड़ी बड़ी खोजें परिश्रमके परिणाम रूपही होती हैं। कभी कभी प्रतिभासे उद्यमका विरोध प्रदर्शित किया जाता है, और माना जाता है कि संसारके बड़े लोग केवल नैसर्गिक बलसेही बडे होते हैं। किंतु यह मानना भूल है। बडे लोग स्वयं महत्व का पृथक्करण इस प्रकार करते हैं कि वह अधिकांशमें श्रमसे ही साध्य है। कार्लाइल के कथनानुसार जिसको हम प्रतिभा कहते हैं, वह केवल अपरिमित श्रम करनेकी शक्ति है। जब ऐसा श्रम करनेवाले मनुष्य शनैः शनैः भी बहुत कुछ कर सकते हैं, तब केवल नैसर्गिक शक्ति रखनेवाला मनुष्य कुछ नहीं कर सकता है, नीचे दिये हुये श्लोक से इसी बातका ज्ञान होता है।

योजनानां सहस्रं तु शनैर्गच्छेत् पिपीलिका ।
अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति ॥

अर्थात् शनैः शनैः एक चींटी भी हज़ारहा योजन जा सकती है, परंतु जानेका प्रयत्न नहीं करनेपर गरुड भी एक क़दम तक आगे नहीं बढ सकता है ।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति ॥

आलस्य मनुष्यके शरीरमें रहनेवाला एक बड़ा शत्रु है । उद्यम समान दूसरा मित्र नहीं । उद्यम करनेवाला मनुष्य खिन्न नहीं होता है ।

साहस—वर्तमान समयमें भारतके युवालोग किसी प्रकारके साहसिक खेलों की ओर अधिक आकर्षित नहीं होते । परिणाम यह हुआ है कि उनमें साहसका विकास नहीं देखा जाता । साहसका विकास करनाहो तो भय के प्रसंगोंका सामना करने का अभ्यास रखना चाहिये । शारीरिक साहस और मानसिक साहसमें भेद अवश्य है । तथापि अंतमें उनदोनों का आधार समान रीतिसे मनकी दृढ़ता और मनके बल पर रहता है । तदुपरांत शरीर और मनका ऐसा गाढ़ संबंध है कि जिस मनुष्य को शारीरिक भयका सामना करनेका अभ्यासहो वह और प्रकारके भयके सामने खड़े रहनेका बल प्राप्त कर सकता है । शारीरिक एवं नैतिक साहस

का भारतके युवकों में विकास हो, इसलिये विषेश प्रयासकी आवश्यकता है।

जीवनके प्रत्येक प्रकार में नैतिक साहसके आचरणके लिये मौका आता है। आलस्य और निरंकुशतासे उत्पन्न होने वाली लालचों के सामने मनुष्यको नैतिक साहससे लड़ना चाहिये। धैर्यभी एक प्रकारका साहस है। किसी प्रकारके उद्वेग से खिन्न हुए बिना मनको शांत और दृढ़ रखना धैर्य है। बड़ी से बड़ी आपात्तियों के बीचमें भी धैर्यवान् मनुष्य शांतिका अनुभव कर सकता है। उसका कारण उस मनुष्यके मनकी दृढ़ता है।

साहसके संबंधमें एक महत्त्व पूर्ण बातकी ओर प्रख्यात ग्रीक तत्वज्ञ ऐरिस्टोटल हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उसका कथन है कि साहस केवल भीरुताका विरोधी सद्गुण नहीं है परंतु वह अति साहासिकता के दुर्गणकाभी विरोधी है। ऐसी अति साहसिकता जैसे शारीरिक बातों में अनिष्ट है वैसे ही वह नैतिक बातोंमें भी अनिष्ट है।

एक दो मनुष्यों के अथवा मुट्ठीभर मनुष्यों के साहस से खतरनाक प्रसंगोंमें सारे समाज को या सारे देश को लाभ पहुंचाहो इस के अनेक दृष्टांत हमें इतिहास में मिलते हैं। सब देशों में प्राचीन साहित्य अधिकांश में वीर पुरुषों और साधुसंतों और नैतिक उपदेशकोंद्वारा प्रदर्शित किये हुए साहसके दृष्टांतोंसे पूर्ण है।

जैसे हम पहले कह चुके हैं भारत के युवकों की बढ़ी हुइ शारीरिक दुर्बलताके परिणाममें, एवं शारीरिक व्यायाम को संपूर्ण उत्तेजना के अभावकी दशामें हिन्दू समाज एक डरपोक समाज हो रहा है। प्राचीन कालमें उस की यह दशा न थी। आर्य माता यह महदाकांक्षा रखती कि उसका पुत्र शूरवीर और तेजस्वी हो। इस बातका दृष्टांत इस पुस्तकमें विदुलोपाख्यान से दिया गया है। जिस प्रकार कुंतीमाताने श्रीकृष्ण के हाथ अपने पुत्रोंको इस आशयका संदेशा भेजा था, कि वीरतासे, साहससे लड़ो और मरना पडे तो रणक्षेत्रमें मरो; उसी आशयकी शिक्षा रजपूत माताएं अपने बालकों को प्रारंभ से ही देती थीं। इस के परिणाम में भारत में एक समय ऐसा भी था, कि रणवीर राजपूत बालक शूरत्वकी परिस्थिति में ही युवावस्थाको प्राप्त होते थे, और वह शूरत्व उनकी रगरगमें वहता रहता था। यह सुविदित बात है कि राजपूत लोग कभी रणक्षेत्र से दूर छिपकर अपने शरीरको बचाना नही पसंद करते थे परंतु चौडे रणांगन में शत्रुओं के सामने नग्न तलवार चमकाते हुए केसरिया करते थे। जिस प्रकार राजपूत माताएं यह महदाकांक्षा रखती थीं कि उनके पुत्र पराक्रमी हों, उसी प्रकार राजपूत पत्नियां भी अपने पतिओंको रणक्षेत्रको जानेसे कभी नहीं रोकतीं; इतनाही नहीं बल्कि उनका उस दिशामें उत्साह बढातीं। मारना मैदान में और मरना भी मैदान में अर्थात् भीरुतासे नहीं जीना यह उनका जीवन सूत्रथा।

राजपूत लोग मानते थे कि रणक्षेत्रमें देह—पतन होनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

अर्जुन को संबोधन करके श्री कृष्ण श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी आशयका उपदेश करते हैं :

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गं द्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं न किम् ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ (२,३१–३७)

धर्म युद्धके अतिरिक्त क्षत्रियके लिये और कोई श्रेय नहीं है। सहज रूपसे प्राप्त होनेवाला यह स्वर्ग का द्वार, जो क्षत्रिय भाग्यशाली हो उसीको, हे पार्थ ! मिलता है। अतः यदि तू यह धर्म्मयुद्ध नकरेगा, तो स्वधर्म और कीर्ति दोनोंको गंवाकर तूपाप

का भागी होगा। तदुपरांत लोगोंमें सदैव के लिये तेरी अपकीर्ति होगी। संभावित पुरुषके लिये अपकीर्ति मरण से भी अधिक दुःखकर होतीहै। ये सब महारथी लोग यही ख़याल करेंगे कि तू भय के कारण युद्ध से पीछे हटता है, और जिनके मनमें तेरे-लिये मानहै उनके अभिप्रायमें तू हलका होगा। शत्रुतेरी निंदा करेंगे। तेरे सामर्थ्यकी निंदाकरेंगे। इससे अधिक और क्या दुःखकर होसकता है। यदि तू युद्धमें मरेगा तो स्वर्गप्राप्त करेगा, और जीतेगा तो पृथ्वीका उपभोग प्राप्त करेगा अतः हे कौन्तेय! युद्ध करने का निश्चय कर, और खडाहो!

जितना महत्त्व शारीरिक साहसका है, उतनाही बल्कि उससे भी अधिक महत्त्व नैतिक साहस का है। हमारे सामाजिक धार्मिक और राजकीय जीवनमें हम कितनी अधिक भीरुता देखते हैं! पुराने रीतिरिवाज अनिष्ट हो तोभी प्रगट में उनकी टीका करनेका उस टीकाके अनुसार आचरण करनेका और सामाजिक जीवन विशुद्ध बनानेका साहस कितने कमलोगों में होताहै। पुराने एवं नये मतके अनुयायियों में कई ऐसे होतेहैं, कि वे केवल रूढिके लियेही रूढिको पकडे रहते हैं, अथवा नवीनता के लिये ही नवीनताकी ओर आकर्षित होते हैं। वे विवेक बुद्धिका उपयोग नहीं करते और यदि करतेभी हैं, तो तदनुसार जीवनमें वर्तन रखनेका उनको साहस नहीं होता। धार्मिक जीवनमें भी पुराने एवं नये ढोंगों का असत्य प्रकाशित

करनेका कितने कम वीर पुरुषों को साहस होताहै। तथापि जहां वह साहस प्रदर्शित कियाजाय, वहां कितना शीघ्र सुधार हो सकता है, इस बातके प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहींहै। यदि किसी विषयमें नैतिक साहस की सबसे अधिक आवश्यकता हो, तो वह राजकीय विषयों में है। राजकीय आंदोलन में अग्रस्थान लेनेवाले नेताओंकी सामान्य वृत्ति प्रायः जनसमुदायके भावोंकी ओर होकर सामान्य और प्राकृत लोगोंकी सहानुभूति प्राप्त करके अपने नेता पदको सुरक्षित रखनेकी ओर होती है। प्रायः यह वृत्ति लोगों एवं स्वयं नेताओंके लिये हानिकर होती है। ऐसे समय साहसका स्पष्ट आविष्कार करके लोकमतके विरुद्ध होकर उनको शिक्षित और सत्यमार्ग दिखलाना, यह केवल कतिपय कर्मवीर महापुरुषों के अधिकारकी बात होती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकारका साहस भिन्न भिन्न दृष्टिसे बहुत उपयोगी है।

सभ्यताः—युवावस्थाके लिये समाजोपयोगी महत्त्वपूर्ण सद्गुणोंमें आत्मशासन और सभ्यताभी है। वर्तमान कालमें अधिकाधिक मालूम होता जाता है कि पाठशालाओंमें, कालेजोंमें, कारखानोंमें तथा उनसे अधिक विस्तीर्ण समाज मंडलोंमें शासन के बिना सामाजिक जीवनका निर्वाह अशक्य है। सुव्यवस्थित समाजमें शांतिसे जीवनका निर्वाह हो इस लिये आत्म शासन आवश्यक है। सुव्यवस्थित समाजके अनुकूल जीवनका निर्वाह हो, यह एक प्रकारका आत्मशासनका रूपांतर है; क्योंकि मनु-

ष्यको अपने व्यक्ति जीवनमेंही रागद्वेष और आवेशोंपर अंकुश रखकर संतुष्ट होना काफ़ी नहीं, परंतु समाजके साथके संबंधमें भी अपने वर्तन पर निग्रह रखना चाहिये। एकवार व्यवस्था और शासनका महत्त्व समझमें आगया कि उनका निर्वाह करना प्रत्येक मनुष्य अपना कर्तव्य मानने लगता है। फिर प्रथम अपने ही वर्तनमें उस शासनका पालन करनेसे और अपने छोटे सामाजिक समूहमें उसका पालन करनेके प्रयत्नसे इस विषयमें बहुत अच्छा असर होता है। जिसको हम सभ्यता कहते हैं, वह आत्मसंयम और शासनका दूसरा स्वरूप ही है। किसी प्रकारकी सभ्यतामें नैतिक दृष्टिसे कमसेकम यह लाभ तो अवश्य होता है, कि उससे हमारे द्वेष और सामाजिक विरोधके भाव दबे रहते हैं। उत्तम प्रकारकी सभ्यतामें तो नैतिक ऐक्यकी भावनाका आविर्भाव होताहै। ठीक देखा जाय तो हृदयकी नम्रता औरविशुद्धता है। यद्यपिप्रायः उसका बाह्याचारका स्वरूप होता है। तथापि यह कहना पडेगा कि अंतर सभ्यता आवश्यक होने परभी बाह्याचाररूपी सभ्यताकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। "नमस्कार" "जयरामजीकी" "सलाम" आदि शब्दोंमें एक प्रकारकी शुभेच्छा और दूसरोंके लिये आंतरिक सद्भाव प्रकट होता है। पुरुष और स्त्री, युव और वृद्ध, इनके संबंधमें स्त्री की ओर पुरुषकी और वृद्धकी ओर युवा मनुष्यकी सभ्यताका अधिक महत्त्व है। उदाहरणासे, किसी सभामें ट्राममें अथवा स्टेशनकी बेंचोंपर और ऐसे अन्य अनेक स्थानोंपर

स्त्रीके प्रति पुरुष को और वृद्धके प्रति युवा मनुष्यको सभ्यता दिख-लानी चाहिये। स्त्री को पुरुष स्थान दे, और वृद्ध मनुष्यकोभी युवामनुष्य स्थान दे। इस प्रकारकी सभ्यता न होना एक प्रकारका जंगलीपन और शिक्षाकी कमी मानाजायगा। छोटी अवस्थाके बालक और अशक्त या रोगी मनुष्यों के लियेही उस प्रकारका सुभीता करदेनेकी हमारी वृत्ति होनी चाहिये।

समान कक्षाके मनुष्यों की ओर सभ्यतारखना कोई कठिन बात नहीं है परंतु हमसे छोटी कक्षाके या हमारे आधीनके ऐसी सभ्यता रखना ही सच्ची सभ्यता है। विना शिक्षाके ऐसी सभ्यता होना अशक्य है। माता पिताको ख्याल रखना चाहिये कि नौकर चाकरके प्रति और अन्य आधीन मनुष्यों के प्रति बालक सभ्य वर्त्ताव रखना सीखे। बालककी समझ कम होती है। नौकर चाकरोंको आज्ञाकरते हुए मातापिताको देखकर बालक स्वयं अनुचित रौब जमाना न सीखे; क्योंकि इससे उनको असभ्य व्यवहारकी बुरी आदत पड जाती है। नौकरोंकोभी "नौकर" "चाकर" शब्दसे पुकारना ठीक नहीं। उनके नामलेकर नरमीके साथ पुकारने से उनको अच्छा लगता है और पुकारनेवाले के लिये भी ऐसा वर्ताव शोभाप्रद होता है। परिणाम यह होता है कि उससे पुकारने वालेका चारित्र्य उन्नत होता है और नौकरभी दिलचस्पीसे काम करता है। श्रीमान कुटुम्बोंमें इस बातपर विशेष ध्यान देनेकी अवश्यकता है।

सत्यंब्रूयात् प्रियंब्रूयात् नब्रूयात् सत्यमाप्रियम्---अथात् सत्य बोलना और प्रिय बोलना सत्य अप्रिय हो तो उसको न बोलना, इस नीतिविवेचनका अर्थ यह नहीं है कि असत्य बोलना। उसका अर्थ तो यह है कि बोलते समय सभ्यता का पालन किया जाय। यह तो सुव्यक्त है कि प्रायः जो काम धनव्यय करने से भी नहीं होता वह वाणी की मिठाससे सहज हो सकता है। एवं पुराना गाढ़ संबंध तथा बहुत अच्छा काम एक कटुवचन से बिगड़जाता है। मनुष्यकी शिक्षा और उसकी नीतिकी परीक्षा कुछ अंशमें उसकी वाणीसे हो जाती है। सचमुच नम्रवाणी मनुष्यका भूषण है।

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला
नस्नानं नविलेपनं न कुसुम नालंकृता मूर्द्धजाः।
वाण्येका समलं करोति पुरुषं या संकृता धार्यते
क्षीयन्ते खलुभूषणानिसततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

केयूर, चंद्रजैसे उज्वल हार, स्नान, लेप, पुष्पमाला तैलादि अंलकृतवाल, इनमें से एकभी वस्तु मनुष्यको शोभा नहीं देती। केवल संस्कृत अर्थात् शिष्ट सभ्य वाणी ही मनुष्यको भली प्रकार अलंकृत करती है। और सब अलंकार कालकी गति से निर्माल्य होजाते हैं; परंतु वाग्भूषणही सच्चा भूषण है :

नम्र शब्दमें कैसा आकर्षक बल है, और कठोर शब्दमें कैसा निंद्यतत्त्व रहा है, इसका ज्ञान नीचेका श्लोक पढ़ने से प्रगट होगाः—

वाङ्-माधुर्यान्नान्यदस्ति प्रियत्वं
वाक्पा रुष्याच्चोपकारोऽपिनष्टः ।
किन्तद्द्रव्यं कोकिलेनोपनीतं
को वा लोके गर्दभस्यापराधः ॥

वाणीके माधुर्य से और कुछ विशेष प्रिय नहीं है; वाणी की कठोरता से पूर्वकृत उपकारोंका प्रियत्त्व भी नष्ट होता है । कोकिल क्या धन ला देती है और बेचारे गर्दभने क्या अपराध किया है ? कोकिल हमें कुछ लाभ नहीं देती तथापि केवल उसके मीठे कूजनसे ही वह हमें मुग्ध करती है। इसके विरुद्ध गधा रेंगता है इसमें हमारा कोई अपराध नहीं करता है; केवल यही बात है कि उसका स्वर कठोर है ।

सभ्यताके विषयमें एक छोटीसी ऐतिहासिक घटना बहुत सुंदर नीतिबोध देती है । ईरानके शाह नादिरशाहने मुगल बादशाह मुहम्मदशाहको हराकर देहली के शाही तख्त पर कब्जा कर लिया था । क़ैद किया हुआ मुहम्मदशाह और विजयी नादिरशाह खानाखाने बैठे थे, उस समय मुहम्मदशाह का नौकर क़हवे का प्याला लाया और सोचने लगा कि प्याला पहले किसको दिया जाय ? यदि नादिरशाहको देता हूं तो मेरे पुराने स्वामीका अपमान होता है; और मुहम्मदशाहको देता हूं तो अतिथि सत्कारमें दोष आता है । खूब सोचकर इस धर्म संकट से उसने यह

मार्ग निकाला कि कहवे का प्याला मुहम्मदशाहके हाथमें देकर अर्ज किया कि " बादशाह नादिरशाह हुजूर के महमान हैं, इस लिये अर्ज है कि हुजूर इनको अपने दस्त मुबारिकसे यह प्याला दें यह सुनकर नादिरशाह नौकरकी सभ्यतासे बहुत खुश हुआ और बोल उठा कि " जैसा आपका मामूली नौकर शाइस्ता और आकिल है वैसे अगर आपके वजीर व उमरा होते तो हिंदुस्तानमें मेरा पैर रखना भी नामुमकिन था"। सभ्यताकी कैसी उत्तम परीक्षा !

मैत्री–मैत्रीके सद्गुणको ऐरिस्टोटलने बहुत उच्च स्थान दिया है। जीवनके सबसे सुखी और अच्छे प्रसंगोंमें कई मैत्रीसे संबद्ध होते हैं, इस बातका कौन इन्कार कर सकता है। मैत्रीका विकास हो सकता है, और उसका विकास करना मनुष्यका धर्म है। नैतिक दृष्टिसे प्रत्येक अवस्थामें मैत्री श्रेयस्कर है। विशेष तया युवावस्थामें वह अधिक श्रेयस्कर होती है। मैत्रीके प्रत्यक्ष लाभोंकी अपेक्षा परोक्ष लाभ अधिक होते हैं।

युवावस्थामेंही स्थायी मैत्रीके बीजबोये जासकते हैं। उस समय मैत्री एकवार हो जाय, तो उसको निभाकर उसको बढाते रहना एक धर्म हो जाता है। मित्रचुनने में नैतिक दृष्टिकी आवश्यकता है। कदापि मित्रताके संबंधमें किसी प्रकारका खराब हेतु नहीं होना चाहिये। यदि होतो अनेक प्रकारके अनर्थोंकी वृद्धि

होती है। उदाहरणमें, चोर या ठग लोगोंकी मैत्री से चोरी और ठगी के अनर्थ की वृद्धि होती है। ऐसी मैत्री में मैत्री का हेतू दूषित हो जाता है। दुर्भाग्य वश मैत्री में नैतिक बातोंकी ओर अक्सर कम ध्यान दिया जाता है। बहुधा स्वार्थ दृष्टिसे मनुष्य मित्रता करता है, और मैत्री को सामाजिक हित के साधन में उपयुक्त न करके, केवल अपनीही स्वार्थ–सिद्धिमें उसका उपयोग करता है।

स्त्री और पुरुषकी भी विशुद्ध प्रकारकी परस्पर मैत्री होसकती है। भाई बहिनोंमें परस्पर जैसा विशुद्ध मित्रभाव होता है, वैसा मित्रभाव सामान्य रूपमें स्त्री और पुरुष में जितने परिमाणमें अधिक विकसितहो, उतनेही परिमाणमें समाजको नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे लाभहोसकता है। युवक युवतिओंके अथवा सामान्य रूपमें स्त्रियों और पुरुषोंके विशुद्ध समागमसे पुरुष जातिके जीवनमें सहृदयता और कोमलता आती है, और स्त्री जातिके जीवनमें विस्तीर्ण प्रकारसे व्यवहारिकता आ सकती है। पश्चिमके देशोंमें स्त्रियां अधिक स्वतंत्र होती हैं; इसलिये कुटुम्बके बाहरभी स्त्री पुरुषोंके मैत्री संबंध अधिक संख्या में देखे जाते हैं; और ये संबंध विशुद्ध होते हैं। अक्सर भारतके लोग पाश्चात्य स्त्री पुरुषोंके ऐसे सामाजिक समागमोंकी ओर अन्यायकी दृष्टिसे देखते हैं, अथवा उनको न्याय देनेमें असमर्थ होते हैं। भारतमें प्रचलित रूढिका बल इतना अधिक बढ गया है, कि यदि कुटुम्बके बाहर के स्त्री पुरुषोंको

एक दूसरसे केवल बातें करते देखनेपर उनके संबंधके विषयमें कुतर्क होने लगते हैं। विशेष करके युवक युवतियों के विषयोंमें कोई जवान लड़की या स्त्री पाठशाला वा कालेजमें अभ्यास करती हो और वहां अध्यापकों अथवा अपने सहाध्यायिओंसे विशुद्ध परिचय रक्खे तो भी उसकी ओर समाज रूढ दृष्टिसे देखकर अन्यायकरता है। स्त्री पुरुषके विशुद्ध समागमसे नीतिका भंग होनेकी अपेक्षा नीति अधिक बलवत्तर होती है, जीवनमें विविधता की प्रेरणा होती है, और सामाजिक प्रगति होती है, इस बातको इस विषयमें भूलना नहीं चाहिये।

सच्ची मैत्रीका उदाहरण हमें सुदामाके जीवन चरित्रमें प्राप्त होता है। यहतो हम बतला चुके हैं कि श्रीकृष्णऔर सुदामाकी मैत्रीके बीज, जब वे गुरुके यहां साथ रहते और अभ्यास करते थे उस समय, बोये गये थे। जिस मैत्रीको हम सच्ची मैत्री कहें, अर्थात् सद्गुण के लिये सद्गुणीकी वह मैत्रीथी। स्वार्थके हेतु वह वह मैत्री प्रयोजित नहीं हुई थी; इस लिये वह स्थायी रह कर अंतमें सुदामाको सुखद हुई। सुदामाके आत्मगौरव की तीव्रता सुविदित है। अपने दुःखके निवारणार्थ अपने मित्र कृष्णके पास जाकर याचना करने के लिये उनकी स्त्री आग्रह करती थी। परंतु उनका आत्मगौरव मैत्री द्वारा इस प्रकारका लाभ लेनेसे उनको रोकतथा। प्रेमानंद कहते हैं:—

जईने जाचो यादवराय भावठ भांगशे रे;
हुं तो कहुं छुं लागीने पाय, भावठ भांगशे रे,
धन नहि जडे तो गोमतीमां जई, दर्शन फल नहि जाय, भावठ.
सुदामो कहे स्त्रीने, नथी मागता प्रतिवाय,
पण मित्र आगळ मान मूकी, मागतां जीव जाय, मातन मुकीएरे.

अर्थः--सुदामाकी स्त्री कहती है कि "हे पति ! मैं आपके पैर पकड़कर विनती करती हूं कि यादवराय (श्री कृष्ण) के पास जाकर याचना करो । वे हमारी दरिद्रता मिटायेंगे । यदि धन न मिला तो गोमती स्नान तो होगा और दर्शन फलसे वंचित न रहोगे" । सुदामा स्त्रीको उत्तर देते हैं कि "भिक्षा मांगने में कोई हानि नहीं; परंतु मित्र के आगे मान छोडकर मांगनेमें तो जीव जायगा. मान नहीं छोडना चाहिये ।

तथापि अंतमें स्त्रीके आग्रह के अधीनहो, सुदामाद्वारिका गये । वहां उनको मित्रसे जो मान मिला, वह मैत्रीकी दिव्यता को साबित करता है । संसारमें साधारण रीतिसे क्या देखा जाता है ? मनुष्य धनवान होने पर, उच्च पदवी प्राप्त करने पर, अथवा अधिक विद्या प्राप्त करने पर बहुधा अपने पुराने गरीब सामान्य स्थितिके अथवा उनसे अज्ञ मित्रों की जान पहचान रखने में लज्जा समझते हैं; तो फिर उसका सन्मान करनेका जिक्र ही कैसा ? कभी कभी इस बर्तावका कारण यह भी होता है कि वह मैत्री

बाल्यावस्थामें किसी प्रकारके स्वार्थ के हेतु अथवा केवल आनंदके निमित्त हो जाती है; ऐसे संयोगोंमें वह विशुद्ध रहकर स्थायी भावसे न बनी रहे तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परंतु एकवार निःस्वार्थ बुद्धिसे होने वाली मैत्री दो हृदयों की संपूर्ण एकता रूप है। इसी कारण श्रीकृष्ण और सुदामाकी सांसारिक स्थितिमें जमीन आसमान का अंतर होनेपर भी उस अंतर को श्री कृष्णजीने मैत्रीका अवरोधक नहीं होने दिया। अपने चीथड़े हाल मित्रको राजासे भी अधिक सन्मान दिया। उस समय उनका स्नेह मानो उभर गया और वे सुदामा को देखकर विह्वल हो गये। यह घटना उनकी मैत्री का शुद्ध सात्त्विक गहरा रूप प्रकट करती है। प्रेमानंदकी नीचे दी हुई पंक्तियों को पढ़कर किस आंखसे हर्ष के अश्रु न चलेंगे।

"मारो बाळस्नेही सुदामो रे, हुं दुःखीओनो विसामो रे;
उठी धाया जादवराय रे, नव पहेर्यां मोजां पाय रे;
पीतांबर भूमि भराय रे, राणी रुक्मिणी उंचा साय रे,
अति आनंदे फुली काय रे, हरि द्रोडे ने श्वासे भराय रे;
पड़े आखड़े बेठा थाय रे, एक पल ते जुग जवी जाय रे;

अर्थ "सुदामा मेरा बाल स्नेही है और मैं दुःखियोंको विश्राम देनेवाला हूं। यह कह कर यादवराय (श्रीकृष्ण) उठ कर दौडे और जूतेभी न पहने। पीतांबर भूमिपर गिर पडा। राणी

रुक्मिणीभी देख रही। हरिके हृदयमें आनंद फूला न समाया। वे ऐसे दौडे कि श्वास भर आया, गिर पड़े और फिर खड़े होकर दौड़े। उनको एक पलभी एक युग समान मालूम हुई।"

बादमें श्रीकृष्णजीने सुदामाको मैत्री का लाभ किस प्रकार दिया यह बात सबको विदित है।

मैत्रीका गौरव नीचे के सुंदर श्लोकोंसे भली भांति प्रदर्शित होता है:—

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षुतनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

भर्तृहरि कहते हैं कि अच्छी सुहवतसे मनुष्यको क्या क्या लाभ नहीं होते? उससे बुद्धिकी स्थूलता चली जाती है; वाणीमें सत्यका सिंचन होता है; स्वमानकी प्राप्ति होती है; पापका नाश होता है; अंतः करण शुद्ध होता है; और सर्व दिशाओंमें कीर्ति फैल जाती है। सच्चे सत् मित्रका वर्णन भर्तृहरि निम्नरीतिसे करते हैं:-

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटीकरोति।

आपद्गतं च न जहाति ददातिकाले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदंति सन्तः ॥

संतलोग सन्मित्र लक्षणका वर्णन इस प्रकार करते हैं। वह अपने मित्रको पाप करने से रोकता है, उसके हितकी ओर ले जाता है, उसके ऐबको ढांकता तथा गुणोंको प्रकट करता है, आपत्तिमें उसका त्याग नहीं करता और आवश्यकता होने पर मदद करता है।

व्याधितस्वार्थहीनस्य देशांतरगतस्य च।
नरस्य शोकदग्धस्यसु हृद्दर्शनमौषधम् ॥

जो पुरुष व्याधिसे पीडितहो, अर्थहीनहो, देशांतरमें भ्रमण करताहो, या शोकसे जलरहा हो, मित्रदर्शन उसके लिये औषध है।

मित्रके सहवाससे, स्नेह युक्त समभावसे किसी भी प्रकारका दुःख कमहोजाता है, यह जगत्का तत्त्वतः सत्य अनुभव है।

ऐरिस्टोटल मित्रको आत्माका दूसरा रूप बतलाते हैं; और यह उचित भी है। मैत्रीसे किस प्रकार का आत्मैक्य होजाताहै उसको ऐरिस्टोटलका यह वर्णन भलीभांति प्रदर्शित करता है। नीचेके श्लोकसे हमें इसी बातका ज्ञान सुंदर रीतिसे होसकता है:-

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मनि।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रेस्वभावजे ॥

मनुष्य को जैसा विश्वास स्वभावज मित्रमें होता है वैसा अपनी मातामें, स्त्रीमें, भाईमें, और आत्मामें भी नहीं होता।

परोपकार और कर्तव्यनिष्ठा—परोपकार एक प्रकार का स्वार्थत्याग है। उस स्वार्थ के आचार के लिये जो कार्यक्षेत्र हमें कुटुंबमें संकुचित रूपसे प्राप्त होता है, उसका पाठशाला और महाविद्यालयमें विस्तार होता है। आधुनिक समयमें पाश्चात्य देशोंमें कौटुम्बिकहित और सामाजिक हितका कुछअंशमें विरोध देखाजाताहै, परंतु वास्तवमें ऐसा विरोध होना आवश्यक नहीं है। कौटुम्बिकहित और सामाजिक हितका परस्पर आधार होता है। मनुष्यका व्यक्तिगत सुख एक दूसरे की सहायता करने से बढ़ता है, और इसलिये परोपकार व्यक्ति और समाज दोनों के सुखका साधक है।

कर्तव्य निष्ठा में, ईश्वर, समाज और अपने आत्माकी ओर के कर्तव्यों में निष्ठारखने की बुद्धिका समावेश होताहै। जिस वस्तु को हमश्रेयस्कर गिनतेहैं, उसको आग्रहसे पकड़े रहने की और उसकेलिये पुरुषार्थ करनेकी और उसमें संपूर्णविश्वास रखने की वृत्ति को कर्तव्यनिष्ठा कहते हैं। बहुतसे देश और कालमें अपने देशके लोगों की ओर के अपने कर्तव्योंका ज्ञानहोना और उनके लिये मन वचन और कर्मसे सहानुभूति प्रदर्शित करना स्तुत्य समझा जाता है; और इसके विरुद्ध का आचरण निंद्यमाना जाता है। जिस कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य को अपने देशकेलिये प्रेमहो, उसको स्वदेशाभिमानी कहते हैं, और जिसको यह प्रेम नहो उसको स्वदेश द्रोही। " स्वदेशाभिमान " और " स्वदेशद्रोह " इनदो शब्दों

से जो स्तुत्य और निंद्यनीतिकी अर्थ गंभीरता हमारी कल्पना के सामने खड़ी होती है, वैसी शायदही और किसी शब्द से होती है। वह अपने कुटुम्ब नगर देशका जोकुछ हितहो उसमें दृढतासे लगारहता है; इतनाहीं नहीं, वरिक नीतिके उत्तम आदर्शोंको भी वह एकाग्रता से पकड़े रहता है। ऐसे मनुष्यमेंही कर्तव्यनिष्ठाकी सच्ची सुंदरता देखी जाती है। जिसको वह कर्तव्य मानता है, उसके लिये किसीभी चीजका भोग देनेके लिये वह तैयार रहता है। समाजमें, राज्यमें, और अन्य संस्थाओंमें जो कुछ काम होता है, वह केवल मनुष्यों पर श्रद्धा रखनेसेही हो सकता है; और इसी लिये कर्तव्यनिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है।

चौथा प्रकरण

पवित्रता, प्रामाणिकता, न्याय, धैर्य, और दान वृत्ति

पवित्रता—यहां हम पति पत्नी अथवा स्त्रीपुरुषके संबंधकी पवित्रताके संकुचित अर्थमें इस शब्दका प्रयोग करेंगे। युवावस्था आनेपर स्त्री पुरुषके लिये वलवान और वेग युक्त आवेशों को संयममें रखने का नया कर्तव्यक्षेत्र उपस्थित होता है, प्रत्येक देशकालमें पातिव्रत्य और पवित्रता स्तुत्य माने गये हैं, और जहां

उन सद्गुणोंका ध्वंस होता हो, वहां कड़ी भर्त्सना होती है और कड़ी सज़ाभी दी जाती है। इन सद्गुणोंका महत्व उनसे उत्पन्न होनेवाली चारित्र्यकी उन्नतिके कारण है। पवित्र पुरुष और पवित्र स्त्री, अनुक्रमसे संयमी पुरुष और संयमी स्त्री गिने जाते हैं। मलिन वासनाओंपर वे अंकुश रखते हैं। पवित्रतासे यह मतलब नहीं है कि शृंगारकी वासनाओं और कामनाओंका समूल नाश किया जाय। उसका यही आशय है कि स्त्री पुरुषके जीवन में उन भावोंको अंकुशमें रखकर उनकी गति योग्य परिमाणमें प्रेरित की जाय; और यहभी देखा जाय कि जीवनकी अन्य कामनाओं की अपेक्षा ये कामनाएं बलवत्तर तो नहीं हो जाती हैं; अर्थात् स्त्रीपुरुषोंको अखंड ब्रह्मचर्य पालन करनेकी आवश्यकता नहीं है। कभी ऐसा संयोग होनाभी संभव है कि उनमें ब्रह्मचर्य पालनसे ही स्त्री वा पुरुष समाजकी उत्तम सेवा कर सके, और उससे समाजको लाभ हो। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सामान्य तौरपर स्त्री पुरुषके लिये विवाहित जीवनही नैतिक जीवन की स्थिति हो सकती है।

पवित्रता विवाहित जीवनमें एवं अविवाहित जीवनमें समान रीतिसे महत्वपूर्ण सद्गुण है। जैसे विवाहित जीवनमें पतिपत्नीके बीच परस्पर विशुद्ध संबंधकी आवश्यकता है, वैसेही अविवाहित स्त्रीपुरुषोंके संबंधमें भी विशुद्धताकी आवश्यकता है। यदि मनुष्यके लिये गृहस्थ धर्म प्राकृतिक माना जाय, तो उसको एक प्रकारका

नैतिक धर्म मानना होगा; परंतु इस विषयमें सर्व के लिये समान नियम नहीं हो सकता है ।

परस्त्रीगमन एक महान् दुर्गुण है। गुजराती महाकवि प्रेमानंद परनारीको " पावकज्वाला सांपन विषनी वेल " जैसी भयंकर उपमा देते हैं। प्राचीन कवियों की कड़ीसे कड़ी भर्त्सना इस पवित्र संबंधके विषय में हुई है। कविशामल भट्ट कहते हैं:-

"परनारी शुं प्रीत, देह परवश छे तेनो;
परनारी शुं प्रीत, जीवन जोखममां जेनो;
परनारी शुं प्रीत, प्रीत राखे नहीं रूडी
परनारी शुं प्रीत, बुद्धि सौ तेनी बूडी "

अर्थः- जिस पुरुषको परनारीसे प्रीति होती है उसका देह परवश होता है, उसका जीव जोखिममें रहता है, वह अच्छी प्रीति नहीं रखता है और उसकी बुद्धि मानो डूब गई है।

पर स्त्री गमनमें एक प्रकारका वचन और कर्मका असत्य रहा है; उतनाही नहीं परंतु ऐसे दुराचरण करने वाले स्त्रीपुरुषकी मान हानि होती है; और इसके विरुद्ध पवित्रतासे आत्मगौरवका पालन होता है । इसी लिये पवित्रता स्तुत्य मानी गई है, और प्राचीन समयकी कई सुंदर कथाओंका विषय पवित्रता रहा है ।

पवित्रतासे चारित्र्यकी उन्नति होती है, और आत्म गौरव स्थिर रहता है, यह बात चारित्र्यकी दृष्टिसे हम ऊपर देख चुके

हैं। तदुपरांत पवित्रताका सामाजिक एवं शारीरिक दृष्टिसेभी हम विचार कर सकते हैं।

शारीरिक दृष्टिसे उसका प्रभाव श्यामलभट्टके नीचे दिये हुये छप्पय से सहज विदित होता है।

"परनारीशुं प्रीत, देहमां दुःख घणेरुं;
परनारीशुं प्रीत, थाय अनर्थ अनेरुं;
परनारीशुं प्रीत, भाग्यहीणाना भोग;
परनारीशुं प्रीत, खरो तनमां क्षयरोग."

अर्थ:–परनारीसे प्रीति करनेवाले पुरुषके देहमें बहुत दुःख होता है, उसका बहुत अनर्थ होता है; उस भाग्यहीनके शरीरमें क्षयरोग होता है।

यह बात सुविदित है, कि दुराचारसे मनुष्य अनेक शारीरिक व्याधियोंको अपने सिरपर ओढ़ लेता है। जो मनुष्य दुराचार करता है, वह शारीरिक दुःखका भागी होता है, इतनाही नहीं परंतु शारीरिक आरोग्य और बल निभानेके नैतिक धर्मसे च्युत होता है। दुराचारसे समाजमें रोग फैलता है, क्योंकि दुराचारसे रोग केवल स्त्रीसे पुरुषको और पुरुषसे स्त्रीको हो जाता है, इतना ही नहीं, परंतु ऐसे रोगग्रस्त माता पिताओंके बालकोंको वंश परंपरा लागू होकर वह समाजमें फैल जाता है। तदुपरांत कोई बार दुराचार बालहत्याका कारण होता है। कदाचित यह परि-

णाम नभी हो, तोभी यहतो अवश्य है कि दुराचारके फलरूप उत्पन्न होनेवाले बालकोंका भली प्रकार पालन नहीं होता। कुछ अंशमें नैतिक विचारोंकी चर्चा पुरुष वर्गके विचारक लोग करते हैं और उन विचारोंको फैलाते हैं इस कारण और कुछ अंशमें दुराचारके फलरूप बालक स्पष्ट रूपसे जिस क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं वह स्त्री होनेसे, स्त्रीका दुराचार स्पष्टतासे मालूम हो जाता है इस कारण, सामान्यतया यह माना जाता है कि अपवित्रता जितनी स्त्रीके लिये निंद्य है उतनी पुरुषके लिये नहीं, है। अर्थात् स्त्रीकी पवित्रताकी रक्षाके संबंधमें मनुष्यमात्रको आग्रह होता है। तथापि उस आग्रहको नीतिका समर्थन देना शक्य नहीं है। नैतिक दृष्टिसे दोनों स्त्री और पुरुषकी पवित्रता समान रूपसे आवश्यक है। नीतिके अनुसार इनमें इस प्रकारका भेद करना उचित नहीं है।

पतिका पत्नीकी ओर किस प्रकार का भाव होना चाहिये, और उसमें पवित्रताकी कैसी पराकाष्ठा होसकती है, इस बात के प्रसंग का कविप्रेमानंदने करुणा रससे पूर्ण अपनी वाणीमें वर्णन कियाहै। अपने पितासे मदालसा के मृत्युका समाचार सुनकर

"अचेतन थयो ऋतुध्वज, शरीरे वाध्युं शीत;
काष्टवत काया थई रे, ब्रह्मांड चढीयुं चित्त;
चित्तभ्रम थयो कुंवर, भीतर ज्वाला लागी;
हा हा नारी करतो उठ्यो, मूर्छा हतीते भागी;
मुकुट विहोणा मस्तके, रेणुथी भराता केश;

" कामिनी कामिनी " करतो धायो, घरमां करतो प्रवेश;
मेडी अटारी गोख जोयां, सूनी दीठी सेज;
'शुं हास्यकरी संतायां नारी,' बोलो, मांगुं एज;
एम न कीजे हो ! एम न कीजे ! मदालसा तुज सम,
जेम चलावो तेम चालुं, जे पड़े मुजने गम
कंथने कांककळावो कामिनी, तमो तुने घणुं व्हाल
एम कहीने रोवा लाग्यो, वळी खुणा खंचाळ;
दासी कहे ' स्वामी, शुं खोळो ? रूठ्या श्री भगवान !
आपणुं घर उदवस्त करी राणीए वसाव्युं स्मशान !
एवो बोल ते दासी केरो स्वामीथी शें सखाय;
तमनो तेम उघाडे मस्तक स्मशान भणी ते जाय;
आवीने उभो रह्यो ज्यां, रामानी राखोडी;
प्रदक्षिणा तें पूंठे करतो बेउ कर निज जोडी,
' शुं भामिनीजी भस्म थयां छो ? सम विसरजो दंड;
मारा समजो बोलो नहीं तो, देह करीश शतखंड ।'
बन्ने हाथथी उसरडीने, राखनो ढगलो कीधो
पामरी मांहे वांधी गांसडो, मस्तक उपर लीधो "

अर्थः—ऋतुध्वज अचेतन होगया, उसका शरीर ठंडा होकर काष्टवत् होगया; चित्त ब्रह्मांडमें चला गया, अर्थात वह कंवर चित्तभ्रम हो गया भीतर ज्वाला भडकउठी। फिर मूर्छा में से " हा हा नारी " बोलता हुआ उठ बैठा। मस्तकसे मुगुट विचलित हो

जाने के कारण केशमें धूल भर गई। फिर " कामिनी, कामिनी, चिल्लाता हुआ दौडा और घरमें प्रवेश करके कोटडी अटारी झरोखे आदि घरके सब भागों को देख आया और शय्याको सूनी पाकर बोलने लगा " हे नारी। मैं यह जानना चाहता हूं कि तुम हास्य के हेतु छिप तो नहीं गई हो? मदालसा ऐसा न करो, ऐसा न करो, तुमको मेरी कसम है। तुम जो कहोगी मैं करूंगा जैसा कि मुझसे हो सकेगा। हे कामिनी! कंथको क्यों दुःखित करती हो? तुम्हारे तई मुझे बहुत प्रेम है। यह कह कर वह रोने लगा और फिर मकान के कोने आदि देखने लगा। उसकी यह दशा देखकर दासीने कहा " स्वामिन्, क्याढूंढते हो? श्री भगवान् का कोप हुआ है। हमारे घरको सूना करके रानीने श्मशानमें वास किया है।" दासीके ऐसे शब्द स्वामी (राजकुमार) किस तरह सहन कर सकता था। वैसाका वैसाही खुले मस्तक श्मशानकी ओर चल दिया। श्मशानमें जाकर वहां खडा हो गया जहां रामा (मदालसाकी) भस्म पडीथी दोनों हाथ जोड कर उसकी प्रदक्षिणा की और बोलने लगा " हे भामिनीजी क्या तुम भस्म होगई हो? तुम न बोलो तो मेरी कसम है। मैं अपनी इस देहके सौ खंड कर डालूंगा।" भस्म को दोनों हाथोंसे इकट्ठी करके उसका ढेर किया और रक्षाका कपडेमें गांठ बांधकर मस्तकपर उठाली।

केवल वर्तमान विचारोंके परिचित मनुष्यको आश्चर्य होगा, कि प्रेमानन्द को भी पत्नी की प्रदक्षिणा करने का विचार अमान्य

न था । दांपत्य की पवित्रता के पालन के लिये, वह केवल पत्नी-कोही संबोधन नहीं करता है, यह बात ऊपर दिये हुए अवतरण से स्पष्ट होगी ।

वनवास करने के लिये आज्ञा मिलने पर, " वन के कष्ट तुमसे सहन न हो सकेंगें, इसलिये तुम यहीं रहो " ऐसी इच्छा जब श्रीरामचन्द्रजीने प्रकट की, तब सीताजीने उत्तर दिया कि " आपके सहवास में दारुण कष्ट भी मेरे मनमें कुछ नहीं होंगे, परंतु आपके वियोगमें स्वर्ग के सुखभी मेरे लिये तुच्छ हैं " । सावित्री को विदित था कि सत्यवानका आयुष्य बहुत कम है, तथापि एक वार उसको मनसे अपना पति मान लेनेके कारण, उससे विवाह करने का निश्चय शिथिल नहीं होने दिया, जो सब को सुविदित है, तथा अपने सतीत्वके प्रभावसे उसने अंतमें यमराज को भी परास्तकिया । अपनी मधुर वाणी और युक्ति प्रयुक्तिसे यमराजसे कई वरदान प्राप्त करके अंतिमबरदान मांगते समय जिन शब्दों का प्रयोग किया वे उसके उच्च पातिव्रत्य का बड़ाप्रमाण है

न कामये भर्तृविना कृता सुखं, न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् ।
न कामये भर्तृविनाकृता श्रियम् न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम्॥

(महा॰ वनपर्व)

"पतिसे पृथक् होकर मैं सुखकी इच्छा नहीं करती, स्वर्ग की इच्छा नहीं करती, नसंपत्तिकी, और नजीवनकी " ।

दमयंतीको मगर जब खाने गया, तब जितनी चिंता अपने लिये न थी, जितना शोक अपने लिये न था, उतनी चिंता और उतना शोक नल राजाके लिये हुआ।

सा ग्रस्यमाना ग्राहेण शोकेन परिप्लुता।
नात्मानं शोचति तथा यथा शोचति नैषधम् ॥

कैसा सुंदर विचार! कैसा सुंदर सतीत्व! कैसा आर्य सतीत्व! सचमुच यह चरित्र एक बहुत उत्तम अनुकरणीय आदर्श प्रदर्शित करता है। हमें अभिमानका कारण तो यह है कि यह आदर्श बहुतसी हिन्दूस्त्रियोंके दैनिक जीवनमें थोडे बहुत अंशमें सदा फलीभूत होताही रहा है।

सुमना और शांडिलीकी कथाका नीतिबोध भी भारतमें स्वीकृत सतीत्वके सुंदर गौरवको भली भांति प्रकट करता है। शांडिली नाम की कोई स्त्री किसी प्रकारके व्रत या तपश्चर्या किये विना स्वर्ग में गई। सुमना नामकी देवबालाने आश्चर्य-चकित हो प्रश्न किया कि "कौनसे सुकर्मों के परिणाममें तुम स्वर्ग लोकमें आसकीं"? शांडिलीने उत्तर दिया कि "हे देवी! मैंने धार्मिक व्रत या तपश्चर्या करके स्वर्ग प्राप्त नहीं किया है, केवल स्वामीसेवा के बलपरही मैं स्वर्ग लोक में आसकी हूं। जो स्त्री मन वचन और कर्म से स्वामी की सेवा करती है, वह किसी प्रकार के व्रत या तप किये बिना ही स्वर्ग में आ सकती है"।

कवि मुक्तानन्द सतीगीता के एक पद्यमें कहते हैं कि:—

सती निःशंक थईनेरे, के पतिव्रत दृढ पाळे,
जग केरी जुठीरे, के अन्य तृष्णा टाळे;
रहे पति संगे राचीरे, के अन्य सुखने त्यागी;
जेने पति सेवामां रे, के दृढ लगनी लागी;
सतीनार नव मूकेरे, के सत थकी पग पाछो;
समजीने सहायोरे, के निज धर्म अति साचो;
गाय हरिगुण प्रीतेरे, के दुष्टनो संग तजे;
प्रेमे निज पतिने सेवेरे, के उरे हरिरूप भजे।

अर्थः—सती निःशंक होकर दृढ पतिव्रत का पालन करती है, संसार की अन्य झूठी तृष्णाओंको छोड देती है; अन्य सुखोंका त्याग कर पतिकेसंग आनंदमें रहती है। जिस सती नारी का चित्र दृढतासे पतिसेवामें लग गया है वह सतीत्वसे अपना पैर दूर नहीं रखती है। निजधर्म को अति सच्चा मानकर उसका सहारा लेती है; हरिगुण गाती है और दुष्टोंके संगका त्याग करती है। प्रेमसे निजपति की सेवा करती है और उसको हरिरूप मानकर हृदयमें भक्तिभाव रखती है। इसी प्रकारके आदर्श को ध्यानमें रखकर कविश्यामल भट्ट लिखते हैं कि:—

नारी तेनुं नाम, करे स्वामीनी सेवा;
नारी तेनुं नाम, दिलथी जाणे देवा;

नारी तेनुं नाम, दुःख सुख घटतां लहीयां;
नारी तेनुं नाम, स्वामीना अवगुण सहीया,
वळी नारी जे नमी चालशे, नारी सफळ फळे फळे;
जीवे त्यारे जस जीती ले, अंतकाळ वांहे बळे.

अर्थः—सतीनारी उसका नाम है जो स्वामीकी सेवा करती है, दिलसे उसको देवतुल्य जानती है और सुखदुःख और स्वामीके अवगुणों को सहन करती है। जो नारी नम्र बर्ताव रक्खेगी उसका जीवन प्रत्येक रीतिसे सफल होगा। इस जीवन में यश प्राप्त करेगी और अंतकालमें भी उसको सुख होगा।

यहां यह कहना आवश्यक है कि पवित्रता, सतीत्व, और सभ्यताके बाह्य आचार बहुधा एक रूप देखे जाते हैं। अर्थात् पवित्रता का अथवा पत्नी धर्मका अर्थ यह किया जाता है कि पति के संबंध में कतिपय बाह्य आचारोंका पालन किया जाय; जैसे वट सावित्री आदि सौभाग्यव्रत करना, पतिके भोजन कर लेने के बाद स्वयं भोजन करना, उसके बाद सोना, इत्यादि साधारण बातों में पतिके गौरवका स्वीकार करने में पत्नी धर्म की विशुद्धता परिसमाप्त हो जाती है। ऐसे बाह्य आचार तथा दूसरे साधारण देशाचार, जैसे कि हदसे ज्यादा विनय के रूढ नियमोंका पालन न करना (पर्दा न रखना कुटुंब के लोगों के अतिरिक्त अन्यव्यक्तियोंसे आवश्यक बातचीत भी न करना इत्यादि) पवित्रता में दोष माना जाता है। परंतु पश्चिमके और पूर्वके रीतिरिवाज

और नैतिक विचारोंकी तुलना करनेसे सहज मालूम होता है कि यह भूल है। कोई भी सद्गुण उसके बाह्यस्वरूपमें जड़तासे स्वीकृत किया जाय तो उसका जो महत्त्व पूर्णतत्त्व है उसका विस्मरण होजाता है। प्रत्येक सद्गुणके आंतरतत्त्वकाही महत्त्व होता है, नकि उसके बाह्य स्वरूपका। जिस विशुद्धताके लिये सीता, सावित्री, सुकन्या आदि स्त्रियां विख्यात होगई हैं, वह हृदयकी अर्थात् आंतर विशुद्धताथी, नकि बाह्य अर्थात् जड़ विशुद्धता। इसका आशय यह नहीं है कि जहां आंतर विशुद्धता हो वहां बाह्य विशुद्धता नहीं होती। महत्त्वकी बात यही है कि केवल बाह्य शुद्धताकी ओर बहुत अधिक ध्यान देनेसे नैतिक प्रवृत्ति अनुचित दिशामें होजाती है और जिसबलकी वृद्धि होनी चाहिये उसकी वृद्धि नहीं होती, नैतिक जीवन संकुचित होजाता है, वह अमुक निषेधात्मक नियमोंके पालन रूप बनजाता है, और जीवन बलवान प्रफुल्लित होने से रुकता है।

जो धर्म स्त्रीका पुरुषके साथके संबंधमें है, वही धर्म पुरुषका स्त्रीके साथके संबंधमेंभी है। पवित्रताकी रक्षा करने के लिये पुरुषभी नैतिक दृष्टिसे उतनाही उत्तरदायी है। पत्नी के प्रति उसकाभी प्रेम शुद्ध, सात्विक और अदूषित होना चाहिये। जब स्त्रियोंके विषयमें हम सीताके आदर्शपर भार रखते हैं, तब पुरुषोंके विषयमेंभी हमें भूलना उचित नहीं, कि उनकोभी राम जैसे पत्नी परायण विशुद्ध पति होना चाहिये।

पवित्रताके संबंधमें विवेचन करते समय राजपूत स्त्रियोंने पवित्रताके लिये जो अमरत्व इतिहासमें प्राप्त किया है उसकाभी विस्मरण नहीं होना चाहिये। यहां एकही दृष्टांत पर्याप्त होगा। वह अलाउद्दीनका रानी पद्मिनीके विषयमें है। अलाउद्दीन खिलजीने पद्मिनीके सौंदर्यकी ख्याति सुनकर उसको प्राप्त करने के अधम उद्देश्यसे चित्तौड़पर हमला किया। जब पद्मिनीको मालूम हुआ, कि राजपूत हार गये, तब वह शूरवीर शुद्ध स्त्री अपने साथकी अनेक विशुद्ध स्त्रियोंको संग लेकर जलती हुई चितामें कूद पड़ी, और इस प्रकार अपने सतीत्वका संरक्षण किया। पवित्रताकी रक्षाके लिये सैंकडों राजपूत स्त्रियोंने इस प्रकार प्राणार्पण किया है। सच कहेंतो राजपूत गौरवका इतिहास राजपूत पुरुषोंके गौरवका इतिहास नहीं हैं जितना की वह राजपूत स्त्रियोंकी पवित्रताके गौरव का इतिहास है। सचमुच, यदि भारतकी अधोगति होनी रुक गई है तो वह स्त्रियोंके सद्गुणोंके कारण है; क्योंकि भारतीय स्त्रियोंसे अधिक मान योग्य, अधिक विशुद्ध मनवाली, अधिक उदात्त चारितवाली स्त्रियां संसारके सबसे अधिक सभ्य देशोंमेंभी मिलनी कठिन हैं। हिन्दुलोग पुरातन कालसे मानते आयेहैं कि:—

“ सतीओना आधारथी, महीपर वरसे मेघ;
सूर, चंद्र, श्रीपति तपे, दैवत सतीनोदेह;

पाकेधान सतीसते, अर्णव रहे मरजाद
सती आधारे मेदिनी, शीद करेछे वाद ? ”

अर्थः—सतियों के आधारसे महीपर मेघ बरसते हैं; सूर्य चंद्र और श्रीपति प्रकाशित होते हैं; सचमुच सती का देह दैवत रूप है। सतीके सतसे धान्य उत्पन्न होता है और समुद्र मर्यादामें रहता है। सतीके आधारसे पृथिवी स्थिर रहती है। इस बातमें विवाद कैसे होसकता है ?

प्रामाणिकता—जीवनके प्रथम आश्रम अर्थात् विद्याभ्यास का समय पूरा होनेपर जब गृहस्थ जीवन के कर्तव्य मनुष्य के सिरपर आते हैं, तब व्यवहार में कई उपयोगी सद्गुणों की उस को विशेष आवश्यकता होती है। पिछले प्रकरणमें उद्यमकी प्रशंसा करके हमने बतलाया है कि विद्यार्थी जीवनमें अर्थात् गृहस्थधर्म में प्रवेश करने से पहले कुछवर्षों में उद्यम की आदत डालने का सच्चा समय है। यद्यपि उद्यम के बीज उस समय में बोयेजाने चाहियें तथापि उसको सच्चे उपयोग और आवश्यकता व्यावहारिक जीवन के प्रथमपद अर्थात गृहस्थ धर्ममें प्रवेश करनेके प्रारंभिक समय में होते हैं। इसस्थानपर उद्यम के साथ प्रामाणिकता की ओर हम ध्यानदिलायेंगे। सचदेखाजायतो व्यवहारमें ऐसे कई सद्गुण होते हैं जिनमें उद्यम और प्रामाणिकता बहुधा साथही रहते हैं। अप्रामाणिकताकी ओर झुकाव बहुधा आलस्य के कारण होता है। कमपरिश्रम से अधिक धनलाभ करने की इच्छा जिस स्वभावमें

प्रबल होती है; और इस इच्छा के कारण मनुष्यको अक्सर यह खयाल होता है कि अप्रमाणिकतासे बडे परिमाणमें और शीघ्रलाभ मिलसकता है; परंतु यह बड़ी भूलहै। प्रामाणिकता एक मूलभूत सद्गुण है। उसके अभावसे अनेक प्रकार के अनर्थों का उद्भव होता है। दूसरों के श्रमका लाभ झूठी मूठी युक्तियोंद्वारा प्रपंच करके लेलेने दूसरों के श्रमके फलकी चोरी करने और जो न्यायसे दूसरे को मिलना चाहिये उसको खोस लेनेकी अन्याय वृत्तिका अवलंबन करके धन आदि इष्ट वस्तु प्राप्तकरलेनेके लिये मनलुब्ध होता है। प्रामाणिकतका सत्यसे बहुत गाढ़ संबंध है; अप्रामाणिकता असत्यका एक स्वरूप है।

आर्य जीवनमें सत्यके लिये बहुत आग्रह किया गया है; यहांतक कि हमारे मनतो

" सत्ये स्वर्ग ने सत्ये मोक्ष, सत्य थकी जाए सहु दोष.
सत्य आधारे रहे आकाश, सत्य तेज पूरण प्रकाश.
सत्ये साक्षी बोले सहुवेद, साचुं सत्य तेमां नहीं भेद.
सत्य त्यां ईश्वर केरोवास, सत्ये सूरज रहे आकाश.
सत्य ते ईश्वर केरो अंश, सत्ये सत्य पूरण प्रशंस
सत्य उपरे जेनी होड, ते आगळ ईश्वर रहे कर जोड
सत्य साथी जेने व्यवहार, ते जाणे ईश्वर अवतार"

अर्थः—सत्यमें स्वर्ग और सत्यमें मोक्ष है। सत्यसे सब दोष जाते हैं। सत्यके आधार पर आकाश रहा है। सत्य पूर्ण प्रकाशमान्

तेज है। सब वेद सत्यमें साक्षित्व बतलाते हैं। सत्य तो सत्यही है। इसमें कोई शंका नहीं। जहां सत्य है वहां ईश्वरका वास होता है। सत्यसे सूरज आकाशमें रहता है। सत्य ईश्वरका अंश है। सचमुच सत्यकी पूरी प्रशंसा है। जो मनुष्य सत्यके ऊपर स्थित है उसके आगे ईश्वरभी कर जोड़ खडा रहता है। व्यवहारमें जिसका साथी सत्य है, वह मानो ईश्वरका अवतार है।

इस प्रामाणिक सरलताकी अविध राजा हरिश्चंद्रके जीवनमें प्राप्त होती है। सरलतासे दिये हुए वचनका, अनेक कष्ट सहन करने परभी, पालन करना, यह बोध उनके जीवनमें स्पष्ट रूपसे हमें मिलजाता है। श्यामल कवि कहते हैं।

"पाळे वायक शूर, जेह रणमां बहु झुझे.
पाळे वायक सिद्ध, जेहने आगम सूझे.
पाळे वायक भक्त, करे ईश्वर वश आपे.
पाळे दाता वचन, वृष्टि जेने परतापे."

अर्थः—रणमें निर्भयतासे घूमने वाला शूर अपने वाक्यका पालन करता है। जो सिद्ध पुरुष वेदकी समझता है और जिस भक्तने ईश्वरको वश कर लिया है, वे अपने वाक्यका पालन करते हैं। दाता अपने वचनका पालन करता है, जिसके प्रतापसे कि वृष्टि होती है।

व्यक्ति जीवन और सामाजिक जीवनकी उन्नतिके लिये शूर' सिद्ध, भक्त, और दाता पुरुषोंके गुणोंकी बहुत आवश्यकता है, और प्रामाणिकताके विना ऐसे आत्माओंका विकास होना असंभव है।

प्रामाणिकताका उद्यमसे भी दृढ़ संबंध है। जैसे हमने ऊपर प्रदर्शित किया है, अप्रामाणिकता आलस्यका एक स्वरूप है। एवं प्रामाणिकता सरलताका स्वरूप है। अप्रामाणिकता सरलताका अभाव प्रदर्शित करती है। अप्रामाणिक मनुष्य कुटिल और जटिल मार्गसे चलना पसंद करता है।

प्रामाणिकता केवल हमारे प्रामाणिक होकर बैठे रहनेमें समाप्त नहीं होती। दूसरोंकी अप्रामाणिकता की ओर चश्मपोशी करनाभी एक प्रकारकी अप्रामाणिकता है। प्रामाणिकताके पालन करनेमें मनुष्य अक्सर मुसीबत में आपड़ताहै, और उससे उसको नुकसान होनेकाभी संभव होता है; परंतु इस बातका ख्यालतक नहीं करना चाहिये। सीधीयापरोक्ष रीतिसे अप्रामाणिकताको उत्तेजित करना या उसको चलने देना एक प्रकारकी नैतिक भीरुता है; इससे मनुष्यको नैतिक शिथिलता और निर्बलता प्राप्त होती है। इस लिये परोक्षरीतिसे उत्पन्न होनेवाली अप्रामाणि-कताकोभी दबा देना चाहिये।

प्रामाणिकताका विचार करते समय लाभालाभका लेश मात्रभी ख़याल करनेकी ज़रूरत नहीं है।

"सत्यवादी संकटको सहे, रहे धीर गंभीर नीरनिधि जैसा"

प्रामाणिकतासे लाभ नहो, तोभी उससे आत्माकी उन्नति गौरव, और विशुद्धता होते हैं इस लिये वह सदैव स्तुत्य है। परंतु हम यह बतला सकते हैं, कि व्यवहारमें, प्रामाणिकतासे

अंतमें लाभही है। जब प्रामाणिक व्यापारी पर सब लोग श्रद्धा रखते हैं, तब अप्रामाणिक व्यापारी कुछ लोगोंको ठगकर प्रारम्भमें बहुत लाभ ले सकता है, परंतु उसकी बदनामी सर्वत्र फैल जाती है, और व्यवहारमें लोग उसके समागममें आनेसे रुकते हैं। अंतमें तो अप्रामाणिक व्यापार नुकसान पहुंचाने वालाही होता है। अक्सर देखा जाता है कि किसी मिलके या किसी संस्थाके या किसी कारखानेके कामकी प्रशंसा होने लगी कि उस बातका अनुचित लाभ लेकर सस्ता या हलका माल बनाके पहलेके अपने अच्छे मालके साथ उसकोभी ग्राहकोंको देकर असीम लाभ उठानेका प्रयत्न किया जाता है। इसका परिणाम क्या होता है? कुछ समयके लिये लाभ अवश्य होता है; परंतु झूठ ठगबाजी और दंभ बहुत समय तक नहीं ठहर सकते। यह बात प्रकाशित होनेपर उस मिल, संस्था, या कारखानेसे लोगोंका विश्वास उठ जाता है; इतनाही नहीं परंतु इसके अतिरिक्त उस शहरकी उस देशकी उस समाजकी उन वस्तुओंमें लोगोंकी श्रद्धा नहीं रहती है। अंतमें अप्रामाणिकताकी हानि बहुतबडे और विस्तीर्ण वर्तुल में फैल जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि अप्रामाणिकताका प्रयोग करनेवाले अपनाही नहीं परंतु अपने समाजकाभी बड़ा भारी नुकसान करते हैं। अप्रामाणिकता अपने आत्माका वचन होनेके अतिरिक्त एक प्रकारका गंभीर समाजद्रोहभी है।

न्याय—कोईभी समाज न्याय के विना स्थिर नहीं रह

सकता । न्याय विशेष रूपसे समाज जीवन और राजकीय जीवनमें व्यक्तियोंके संबंधोंका सद्गुण है । न्याय का अर्थ समता । सर्व मनुष्योंको समान परिस्थिति और समान योग्यताकी दशामें श्रेयस्कर वस्तुओंका समान बटवारा करना, इसका नाम न्याय है । पक्षपात अथवा हमारे साथ संबंध रखने वालोंकी ओर विशेष अनुचित ध्यान देनेका नाम अन्याय है । न्यायके विषयमें एक कठिन प्रश्न यह है, कि अमुक संयोगोंमें न्यायी वर्त्तन किसे कहा जाय । इस संबंध में समाज और इतिहास क्रमशः नियत की हुई पद्धतिका अनुकरण करना , यह सरल मार्ग है । ज्यों ज्यों समाजकी नैतिक दृष्टिमें सुधार होता जाता है । त्यों त्यों अमुक संयोगोंमें न्यायी वर्तन क्या इस विषय के हमारे विचार बदलते रहते हैं । नीति प्रगति शील है । समाजकी प्रगतिके साथ नैतिक विचारोंकी प्रगति होती है । जिस न्यायसे एक असभ्य समाज संतुष्ट होगा उससे प्रगतिमान सभ्य समाजको संतोष न होगा । मुख्यतः यह प्रगति अधिक विशेषताएं देखनेकी ओर और अधिक गहरा नैतिक विवेचन करने की ओर होती है । ऐसी प्रगतिका हम एक दृष्टांत देते हैं । प्रकट रूपसे चोरी करना प्रारंभिक समयसे एक प्रकार का अन्यायमाना गया है; परंतु कालकी गतिके साथ हमारे नैतिक विचारकी प्रगति हुई है और हमारी दृष्टि गहरी डालने के लिये हम प्रवृत्त होते हैं । औरोंके काम या श्रमसे बहुत कम दाम खर्च करके महान लाभ उठानेकी वृत्ति भी

एक प्रकारकी चोरी अर्थात् अन्याय है, यह बात प्रौढ़ विचारसे हमें सूचित होती है। जो मिलका मालिक मजदूरों और श्रमजीवियोंको उचित वेतन न दे कर केवल उनकी परवश स्थितिका लाभ लेता है, और कमसे कम दाम देकर और अधिक से अधिक परिश्रम कराकर अपने धनकी वृद्धि करता है वहभी अन्याय करता है; वह दीन श्रमजीवियोंके उचित श्रम फलमें से गुप्त रीतिसे चोरी करता है। यह विचार प्रगति शील समाज के अनुरूप है। असभ्य समाज में गुलामी भी कुदरती और न्याय युक्त संस्था मानी जाती थी; परंतु सभ्य अंतःकरण उसको अन्याय मानता है। इसी तरह असभ्य समाजों में धनवान् मनुष्य कमसे कम श्रम फल देकर अधिक लाभ उठावे, तो उसकी ओर ऐसे समाज कड़ी नजरसे नहीं देखते; वे उसके वर्त्तन को न्याय युक्त मानते हैं; क्योंकि उनमें केवल इस बातका विचार होता है कि श्रमजीवी अपनी खुशी से कम श्रम फल स्वीकार करता है। परंतु यहां यह भूल होती है कि उसकी इस खुशी और इसस्वीकृतिका उद्भव केवल संयोगों के दबावसे होता है। वर्तमान समयतक व्याजका दर प्रति सैंकड़ा कितने रूप तक उचित है इस विषय में कोई सर्व मान्य सामाजिक व्यवस्था देखने में नहीं आती। परंतु हमें आशा है कि समय की गतिसे हद से ज्यादा व्याज लेने वाले मनुष्योंकी तरफ़ समाजकी बहुत कड़ी दृष्टि होगी। उनको भी समाज लुटेरोंकी तरह अन्याय करनेवालोंकी पंक्तिमें रक्खेगा।

विशेष करके हमारे आधीन या हमसे नीचे की पंक्ति के मनुष्यों के प्रति अन्याय करने के लिये हम आकर्षित होते हैं। बहुधा आधीन लोग ऐसे अन्याय का विरोध नहीं करसकते हैं, क्यों कि इसका परिणाम इनके हितके लिये अनिष्ट होता है। उनलोगों को न्याय तबही मिलसकता है, जब उनके ऊपर के अधिकारी न्याय करना चाहें, इसलिये उचित है कि न्याय वृत्तिका विकास कियाजाय। ऐसी न्यायवृत्ति आत्मसंयम और उत्तम नैतिक प्रयत्न के विना अलभ्य है। अतः इसदिशामें हरएक मनुष्य को प्रयास करना चाहिये।

न्याय अन्याय के अच्छे दृष्टांत भारतके पुराण और इतिहासों में अनेक मिलते हैं। महाभारतका युद्धही न्याय अन्याय का युद्ध था। कौरवोंके अपरिमित बलका छेदन करने में पांडव अंतमें समर्थ हुए, उसका कारण पांडवों के पक्षका न्यायही था। पांडवों को राज्य में से उनका भाग न देते हुए नीच युक्तियों से उनको राज्य से निकाल देने में कौरवोंने पूरा अन्याय किया। धृतराष्ट्र को विदुर जी इस बातका अनेकवार स्मरण कराते रहे और उसको अंधराजा समझताभीथा। परंतु विदुरजीको एकही उत्तर दियाकरताथा कि "मैं क्या करूं मेरा लड़का दुर्योधन बहुत दुराग्रही है और मैं निराधार हूं। विदुरजी जैसे ठोक ठोककर नीतिका उपदेश देनेवाले कम होते हैं, तोभी उनके कहने का कुछ असर नहीं हुआ, यह बात क्या सूचित करती है? केवल यही कि अन्यायसे बाह्यवर्तन में

मूर्खताका आविष्कार होता है, इतनाहीं नहीं, परंतु मनुष्य की सदसद् का विवेक करनेवाली बुद्धि भी कुंठित होजाती है। यदि महाभारत किसी एक बातका प्रकट रूपसे हमें वारंवार स्मरण कराता हो तो वह यही है, कि अन्यायसे आत्माकी अधोगति मानसिक शक्तियां क्षीण विवेक बुद्धि भ्रष्ट होजाती है, और इसके विरुद्ध न्यायसे चारित्र्य विशुद्ध और मनुष्य को सर्वत्र विजय प्राप्त होता है।

रामायणमें हमारे हृदयपर महान् प्रभाव डालने वाला प्रसंग भरतजी के संबंधमें है; और वह सबको सुविदित है। जब रामचन्द्रजी बनवासके लिये भेजे गये, तब उनके पीछे राज्यका अधिकार भरतजी का समझ कर उनको राज्य गद्दी देनेका प्रस्ताव हुआ परंतु इस तरह अन्यायसे मिलनेवाली राज्य गद्दीका भरतजीने स्वीकार नहीं किया। वे रामचन्द्रजीको वापसबुलाने गये; और जब उस काममें वे सफल न हुए, तब सखेद हृदयसे अयोध्याको लौट कर उन्होंने अपनी इच्छाके विरूद्ध शिरपर आ पड़नेवाले कर्तव्यकी तरह राज्य धुराका वहन किया, और श्रीरामचन्द्रजीकी पादुका स्थापन करके उनके नामसे राज्यकार्य चलाया। भरतजी का यह वर्त्तन कैसा उदात्त दृष्टांत है!

शंकराचार्य और मंडन मिश्रके बीच विवाद हुआ और उस समय मध्यस्थका स्थान मंडन मिश्रकी स्त्री भारतीको दिया गया। वह स्थान उसने अपने सद्गुणसे सुशोभित किया, यह बात उसके

दिये हुए निर्णयसे सिद्ध होती है । मंडन मिश्रके विरूद्ध निर्णय देनेमें उसकी न्याय वृत्ति की विशुद्धता संपूर्ण रीतिसे प्रकट होती है । यदि उसकी न्याय वृत्ति विश्वसनीय न होती, तो शंकराचार्य उसकी मध्यस्थताका स्वीकारही क्यों करते ? न्यायकाध्वंस होसके ऐसे प्रत्यक्ष संयोगोंमें किसी अन्य स्त्रीका ऐसा दृष्टांत किसी अन्य देशके इतिहासमें मिल सकता है क्या ? निश्चितरूपसे हम कहेंगे कि यह दृष्टांत हिन्दुओंको योग्य अभिमान देनेवाला है । भर्तृहरि न्यायकी जिस अपवाद रहिततापर भार देते हैं, उसका हमें भारतीका यह वर्तन उचित रूपसे स्मरण कराता है । भर्तृहरि तो यह कहते हैं कि न्यायके मार्गमें चलते समय मनुष्यको लाभ अलाभ वा स्तुति अस्तुति का विचार नहीं करना चाहिये, परंतु भारतीके दृष्टांतसे तो हमें यह भी ज्ञात होता है कि न्यायके प्रसंगोंमें न्यायी मनुष्य प्रेम जैसी पवित्र भावना का विचारभी तुच्छ समझता है । भर्तृहरि इस तरह न्यायका वर्णन करते हैं:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलंति पदं न धीराः ॥

सांसारिक व्यवहारके प्रवीण लोग स्तुति करें वा निंदा करें, धन मिले या चला जावे, जोहो सोहो, मरण आजही हो अथवा एक युगके पीछे, इन बातोंका कुछ भी विचार न करते हुए धीर

पुरुष न्याय के मार्ग में से एक पद भी हटते नहीं । अर्थात् न्याय के सद्गुण में अपवाद के लिये स्थानही नहीं है ।

धैर्य—व्यावहारिक जीवनमें मनुष्यको धैर्य रखना आवश्यक होता है क्योंकि किसी काममें शीघ्रता करने से ठीक फल नहीं मिलता है । हमारी आशाओं, हमारी महत्वाकांक्षाओं, हमारे आदर्शोंको फलीभूत करनेके लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता है । कदाचित् इस प्रयत्नमें विघ्नभी आवें तो उनसे डर पीछे न हटते हुए, प्रारंभ किये हुये कामको पकड़ रहना मनुष्यको सीखना चाहिये। इसके लिये धैर्य आवश्यक है । धैर्य एक प्रकारका आत्मसंयम है ।

जैसे निष्कुलानंद कहते हैं:—

"धीरज सम नहीं धनरे, संतो, धीरज सम नहीं धन
अतुल दुःख पडे ज्यारे आवी, ते तो न सहेवाय तन
तेमां कायर थईने को दीन न वदे दीन वचनरे. संतो
धीरज धारी रहे नर नारी, पात्रे ते सुख सदन
कष्ट कापवानो ए छे कुठार, वाढे विपत्तिना वनरे संतो"

अर्थः- "हे संतो, धीरज सम कोई धन नहीं है । जब तनसे सहन न होसके ऐसा अतुल दुःख आ पडे, तब कायर होकर कभी दीन वचन न बोले । जो नर नारी धीरज धर रहते हैं वे सुखसदन के पात्र होते हैं । कष्ट काटने की वह कुल्हाडी है, उससे विपत्ति के वन कट जाते हैं ।"

किसी काम या पेशे में कामयाब होनेके लिये तो धैर्य बहुत ही जरूरी है। परंतु कौटुम्बिक जीवन में, पति पत्नीके संबंध में, और माता पिता और बालकों के संबंधमें भी उसका काम पड़े ऐसे संयोग बारंवार उत्पन्न होते हैं। गुरू और शिष्य के संबंधमें अथवा अधिकारी और उसके आधीन कर्मचारियोंके संबंधमेंभी वह सद्गुण आवश्यक है। धैर्यके अभावसे शिष्य अथवा आधीन कर्मचारियोंसे बेगार काटने जैसा काम लिया जा सकता है, परंतु कर्मचारियों, शिष्यों, वा बालकोंका काम आलस्यमय वा अनीतिमान् हो तो भी उसको धैर्यसे सहन करनाभी ठीक नहीं है।

धैर्यके सद्गुणके विना शक्तिमान् लोगभी व्यावहारिक जीवनमें सफल नहीं हो सकते। वकील बैरिस्टरका पेशा शुरू करने के पीछे कई युवा मनुष्योंको बहुधा शीघ्र सफलता नहीं मिल सकती है। इससे हताश होकर वे एक पेशेसे दूसरे में और दूसरे से तीसरेमें, इस प्रकार चलचित्त हो जाते हैं। वे इस बात को भूल जाते हैं, कि किसी पेशेके अग्रस्थानको सुशोभित करने वाले लोगभी धैर्यके विना उस स्थानको नहीं पहुंच सकेथे। प्रत्येक कार्य सिद्धिके लिये समय चाहिये समयका काम समयसे ही हो सकता है। कई लोगोंको ऐसी आदत होती है कि वे बीमारीमें दो तीन दिनमें वैद्य या डाक्टर बदलते रहते हैं। परंतु इससे रोगीकी दशा विगड़ती रहती है। दवाका असर होने के लिये भी धैर्य रखना चाहिये। नीचे दिये हुए दोहे इसी आशयका बोध देते हैं—

धीरे सबकुछ रावतां, धीरे सबकुछ होय ।
मालीसींचे सोगणां, ऋतुबिन फल नहि होय ॥
जैसीपरै सुसही रहै, कहि रहीम यह देह ।
धरतीहीपर परत सब, शीत घाम अरु मेह ॥

जैसे हमने ऊपर प्रदर्शित किया है, जहांतक बन सके मनुष्यको धैर्य रखना चाहिये । परंतु यह बात नहीं भूलना चाहिये, कि धैर्य कीभी सीमा होती है । मनुष्यको अपने देश, समाज और नगरके हितका सदैव विचार करना चाहिये, और यदि कोई बात उसके विरुद्ध हो, तो ऐसे प्रसंगमें उस बातके संबंधमें धैर्य रखना ठीक नहीं है । आरोग्यके नियमोंका पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है । यदि कोई मनुष्य उसका उल्लंघन करे, तो उसपर उचित टीका करने तककी असहिष्णुता इष्ट है । जो प्रकटरूपसे अनुचित बात है उसको निभा लेना युक्त नहीं । उसके विरुद्ध निडरतासे अपना अभिप्राय प्रदर्शित करना हमारा कर्तव्य है । बहुतसे सामाजिक अनर्थ जितने अंशमें दुर्जन लोगोंके दुष्ट कृत्योंसे उत्पन्न नहीं होते, उतने अंशमें उनके संबंधमें सज्जन पुरुषोंकी अनुचित उदासीन वृत्तिसे उत्पन्न होते हैं । बहुधा सहिष्णुता अथवा क्षमाकी प्रशंसा होती है, परंतु अनीतिके प्रसंगोंमें क्षमा अनुचित है । ऐसी क्षमाका बीज आलस्य और नैतिक भीरुता होता है । सामाजिक और प्रजाकीय श्रेय किस बातमें है; यह निश्चित करनेके विषयमें अपना मत स्पष्ट रूपसे

प्रदर्शित करनेका कर्तव्य प्रत्येक मनुष्यके शिरपर है ही, इस बातका ज्ञान जब तक समाजके प्रत्येक व्यक्तिको नहीं तबतक संसारके प्रचलित अनर्थोंका प्रचार होताही रहेगा।

दान—प्रवृत्तिमय जीवनके समय, दान वृत्तिके सद्गुणका अमल करने की संभवितता का अनुभव कुछ न कुछ अंशमें प्रत्येक स्त्री पुरुषको होगा। दान में दयालुता और परोपकार का भी कुछ अंशमें समावेश होता है। अक्सर दान का अर्थ भिक्षा देना किया जाता है। लगभग सब धर्मों में भिक्षा देने और सदा-व्रत स्थापित करने की शिक्षा दी जाती है। मुसलमान और हिन्दू धर्म में यह बात बहुत आवश्यक मानी गई है। कुछ भी किसी को देना इसका नाम दान। बलवान, जवान, व बुद्धिशाली लोग निर्बल, अज्ञान, रोगग्रस्त या वृद्ध लोगों को सहायता करें, इस प्रकार के दान के लिये भी उन धर्मों में विधान है। यद्यपि भिक्षा के रूपमें दान देना साधारण रीतिसे सरल मालूम होता है, लेकिन वह इतना सरल नहीं है, क्योंकि जिस मनुष्य को विशेष रूपसे आवश्यकता हो उसी को भिक्षा देने में यह सद्गुण रहा हुआ है। जो अपने ही दोष के कारण बुरी दशामें आपडे हों, उनको दान देना ठीक नहीं। भिक्षा या दान देने के विषयमें दान के पात्र कौन हैं यह निश्चय करना बहुत कठिन है। अपात्र दान करने से देशमें भिक्षुकों की सेना बढ़ती है, यह सेना लोगों के ऊपर भाररूप हो जाती है, और उनके नैतिक जीवन के लिये

हानिकर होती है। इस अनर्थ से दूर रहने का एकही मार्ग है, कि दान विवेकसे किया जाय। भारत को दान के विषय में कुछ सिखाने की जरूरत नहीं है।

"मागण आवे मागवा, करवो पड़े नकार,
एथी तो मृत्यु भलुं, पुण्यपुरुषने सार.
निर्मुख जो जाचक वळे, कुवचन सुणीए कर्ण
एथी लक्ष करोडवर मोटुं रुडुं मर्ण." (श्यामल)

अर्थः—" भिक्षुक मांगनेके लिये आवे और इनकार करना पड़े इससे तो पुण्य पुरुषके लिये मृत्युही अच्छा है। यदि याचक निर्मुख चला जाय और कानोंसे उसके कटु वचन सुनने पडें, उससे तो मरण लाख करोड वार बहुत अच्छा।

यहभाव प्रत्येक हिन्दूके हृदयमें भराहुआ है; और दानविरोधी कृपणोंके लिये ऐसे वचन कहे जाते हैं किः—

" दाट सूमनुं धन, दाट निर्दातानुं मुख
दाट कृपणनुं काज, दाटस्त्री पाखी जे सुख।"

"सूमके धनको, निर्दाता के मुखको, कृपण के कार्यको और स्त्री पक्षके सुखको गाड़ दे।"

दान करनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है, यह धार्मिक भावना प्रत्येक हिन्दूके मनमें ऐसी रूढ़ होरही है कि इस संबंधमें नैतिक दृष्टिसे कुछ भी कहना हो, तो वह दानकी आवश्यकता के विषयमें

नहीं, परंतु दानके पात्र के संबंधमें और दानके परिमाणके संबंधमें है। परंतु उससे पहले हम थोडासा देखलें कि किन वस्तुओंका दान उत्तम गिनना चाहिये ? इस संबंधमें हिन्दुओंकी धार्मिक भावना क्या है ? महाभारतके दानपर्वमें अन्नदान, जलदान भूमिदान, गोदान, और विद्यादान इनको विषेश महत्त्व दिया है। विद्यादान के लिये नीचे दिया हुआ श्लोक कैसा स्पष्ट है।

यो ब्रूयाच्चापि शिष्याय धर्म्यां ब्राह्मीं सरस्वतीम्।
पृथिवीगोप्रदानाभ्यां तुल्यं स फलमश्नुते ॥

अर्थः–" जो गुरु शिष्यको शुद्ध और उत्तम विद्या सिखाताहै, उसको पृथ्वी और गाय देने बराबर पुण्य होता है। "

इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट कियेहुए सब दानोंकी स्तुतिकी गई है। तब विना पात्रके दानदेना ठीक नहीं है, इसबातको लेकर हम कह सकते हैं कि जो सचमुच दरिद्र हो, और साथ इसके योग्यभी हो उसीको दानदेना नीतियुक्त है।

कृष्णाराम अपने शिक्षा वचन में कहते हैं किः—

" खाय तो खाजे खवरावी सत्पात्राने पिंड पोषी रखे पुष्ट थातो "

अर्थः–" यदि खाना हो; सत्पात्र को खिलाकर खा; अपने ही पिंडका पोषण करके पुष्ट मत हो।

अपात्रको दान देना और पात्रको दान न देना समान रीतिः निंद्यहै। प्रजागरपर्व में कहागया है किः—

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥

इस प्रकार दानके दोनों अतिक्रम निंद्य हैं ।

दानके परिमाण के संबंधमें कहना चाहिये कि यद्यपि दान स्तुत्य गुण है तथापि दानका परिमाण इस सीमा तक नहीं जाना चाहिये कि जिससे अपने को या अपने पर आधार रखनेवाले लोगों को अन्याय हो । भारतमें दान के संबंध में पुराने खयाल के लोगों के मन में विचित्र प्रकार के विचार होते हैं । वे तीर्थ यात्रा या ऐसे ही कोई अन्य धार्मिक प्रसंग पर अपनी आर्थिक स्थितिसे अधिक धन खर्च करडालते हैं ! इससे स्वयं अपने को तथा जिनको दान दिया जाता है उनको भी वे हानि पहुंचाते हैं । और अपने को अन्याय करते एवं दान लेने वालोंको निरुद्यमी जीवनकी ओर प्रोत्साहित करते हैं ।

पांचवां प्रकरण

प्रसन्नता, सहिष्णुता, आत्म समर्पण विरक्तता, और क्षमा

प्रसन्नता—यह बात सुविदित है कि पश्चिममें प्रभु प्रार्थनाके समय लोग अपने को दुःखी और पापी बताते हैं । यद्यपि

साधारण रीतिसे यह माना जाता है, कि पापका फल दुःख होता है, अर्थात् पापमें दुःखित्व रहा है, तथापि उसके साथ इस बात का भी स्मरण रहना चाहिये, कि दुःखित्वको उत्पन्न करना य उसको जारी रखनाही एक प्रकारका पाप है। यदि कोई सद्गुण ऐसा हो किजो अन्य फलकी अपेक्षा के विना अपने आपही अच्छा हो, और जीवन को जीने योग्य बनाता हो, तो वह प्रसन्नताका सद्गुण है निर्विवाद रीतिसे हम कह सकते हैं कि उदासीनता का विरोध करना और प्रसन्न स्वभाव को साधनाभी एक कर्त्तव्य है। प्रसन्न स्वभाव साधनेकी सच्ची आवश्यकता यह है, कि उससे हमारा वर्तन उन्नत होता है। जिस प्रकार प्रसन्न स्वभावसे हमें हमारा वर्तन उन्नत करना चाहिये उसी प्रकार हमारे कृत्योंसे उस स्वभाव का आविर्भाव करना चाहिये।

प्रसन्न स्वभाव को साधने का मौक़ा आराम के समय में मिलता है। उस समय खेल आदि विनोद के साधनों से उसकी साधना हो सकती है। ऐसे विनोदके साधनोंसे जिस उल्लासका विकास होता है वह उल्लास जीवनकी अन्य बातों में भी बनारहता है। इसके परिणाममें अधिक श्रम देनेवाले गंभीर कार्य भी अधिक सरलता और अधिक सुख के साथ हो सकते हैं। इस लिये अगर हम प्रसन्न स्वभाव साधने की आवश्यकता समझलें, तो हम यह भी समझ सकेंगे कि खेल विनोद आदि भोगना और दूसरेको भोगने देना कि यहभी सद्गुण है । खेल विनोद आदि भोगनेका एक ओर

दृष्टिसे भी विचार कर सकते हैं। ऐसे विनोदका हमारे सामाजिक संबंधोंके ऊपरभी असर होता है। जिन लोगोंके साथ हम खेलते हैं, वे उत्साहसे हमारे साथ कामकरनेको तत्पर रहते हैं। एवं ऐसे खेल अदिमें स्त्री और पुरुष दोनों जातिओं का समागम हो सकता है। विशेषतया पश्चिम में और इससे एक दूसरों के स्वभावका भली भांति ज्ञान हो जाता है, एक दूसरों के गुणों को भी अच्छी तरह जान लेते हैं, और बहुतसी बातों में एक दूसरों से निर्दोष रीतिसे समानता के साथ स्पर्धा हो सकती है। इसी प्रकार समाजके भिन्न भिन्न वर्ग और ज्ञातिओंमें रहे हुए स्थूल भेदोंका छेदन करने में भी इन खेल आदिसे सहायता मिलती है। इस स्थान पर यह भी कह सकते हैं कि संगीत और वाद्य का भी प्रसन्न स्वभाव साधने के कार्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

यहतो हम मान सकते हैं कि बाल्यावस्था और युवावस्थामें जीवन के उत्साह का विकास होनेके कारण मनुष्य इन अवस्थाओं में स्वाभाविक रीतिसे न्यूनाधिक अंशमें प्रसन्न रहता है। प्रौढ अवस्थामें सिरपर अधिक उत्तर दायित्व आनेसे मनुष्य के स्वभाव में कुछ अंतर होने लगता है, और प्रसन्नता के कर्तव्य का पालन करना अधिक कठिन होताहै;: परंतु इस विषय में सबसे अधिक कठिनाई तो वृद्धावस्थामें होती है, और उस अवस्था में उदासीनता दूर करने के लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है। वृद्ध मनुष्यों के जीवन के विषय में बहुधा ऐसाविचार रहता है कि "माया!

माया ! सब मायामय है, जीवन मोहमय है । संसार के सुख संपत्ति आदि सब क्षणिक हैं; उनमें आसक्ति रखना एक प्रकार के झूठे मोहमें फंसजाने के बराबर है "। यह वृत्ति ऐसी प्रबल होती है, कि संसार की सब बातों में से मन उठजाता है और मनुष्य निराशासे निस्तेज होने लगता है । इसलिये केवल अपने लिये ही नहीं, किंतु अपने संबंधिओंके लिये, अपने मित्रों के लिये, समाज के लिये और आसपास के सब मनुष्यों के हितके लिये प्रसन्न स्वभाव साधना आवश्यकहै, और विशेष करके वृद्धावस्थामें जबकि स्वाभाविक रीतिसे उसका प्रायः अभाव होता है ।

हिन्दु जीवन में साधारणतया गांभीर्य का बल विशेष देखा जाता है; प्रसन्न स्वभाव को कभी बालिशता कहकर उसकी हंसी होती है । प्रौढ अवस्थामें क्रिकेट, टेनिस, या ऐसा कोई और खेल खेलना भारतके कई विभागों में लड़कपन गिना जाता है । बड़ी अवस्था में ऐसे खेल पुरुष खेले तो वह हास्य का पात्र होता है; परंतु कभी कोईस्त्री खेलने का साहसकरे तो यहही माना जाता है कि उसमें स्त्रीत्व की ही कमी है । रूढ होगये हुए इस लोकमत का यह कारण है, कि हम आनंद भोगना जानते नहीं हैं । आनंद से आयुष्य की वृद्धि होतीहै, जीवन उन्नत होताहै और काम करने की शक्ति बढती है । इन बातों का विस्मरण होजाता है, इतनाहीं नहीं, परंतु इस बातका भी विस्मरण होजाता है, कि आनंद ईश्वर का अंश है । हमही ईश्वरको सच्चिदानंद स्वरूप मानते हैं तथापि

हम आनंदकी ओर कड़ी दृष्टिसे देखते हैं, यह एक तार्किक विसंगतता होती है । पश्चिम के लोगोंके समागमसे इन रूढ भावनाओं में फेरफार होने लगा है, तथापि इस संबंधमें तबभी पश्चिम से बहुत कुछ सीखना बाकी है ।

सहिष्णुता-जिसने सहिष्णुताके गुणका विकास कियाहो उसको प्रसन्नता साधना सुगम होता है; क्योंकि जो मनुष्य प्रसन्न रहता है, वह क्रोध या क्षोभके प्रसंगों में शांति रख सकता है । उसका मानसिक क्षोभ शीघ्र शांत हो जाता है । दूसरेकी मानसिक वृत्ति या मत बिल्कुल बुरे मार्ग पर न हो, ऐसे प्रसंगमें उसकी संभवितता अथवा उसके अच्छेपनका स्वीकार करनेसे न रुक जाने का नाम सहिष्णुता है । सहिष्णुता प्रदर्शित करने का प्रसंग विशेष करके धार्मिक आचार विचार और श्रद्धाके संबंधमें उपस्थित होता है, और सहिष्णुता और असहिष्णुताके मुख्य उदाहरण धर्मके संबंधमें मिलते हैं । जो मनुष्य सहिष्णु होता है वह अधिक अंशमें नम्र होता है; उसकी दृष्टि विशाल और विवेक-बुद्धि शांत होती है । आधुनिक समयमें राजकीय बातोंमें सहिष्णुताका पालन करना अधिक कठिन हो गया है । धर्मके संबंधमें जीवनके तात्त्विक सत्यका प्रश्न होता है; राजकीय बातोंमें समाजके और स्वयं अपने तात्कालिक सुखका प्रश्न अधिक महत्व रखता है । असहिष्णुतासे टीका किये जानेका कारण यह होता है कि जो टीका के पात्र होते हैं, उन्होंने जिन संयोगोंमें

या जिस हेतुसे कार्य किया हो, उनका पता लगानेका पूरा प्रयत्न नहीं किया जाता है। असहिष्णुताका निरोध करनेमें जितने अंशमें ज्ञान समर्थ होता है उतने अंशमें और कोई बात समर्थ नहीं हो सकती है। सब युगोंमें अज्ञानी मनुष्य बहुतही असहिष्णु होते हैं। प्रायः मनुष्य वृद्धावस्थामें कम सहिष्णु होते हैं, उसका कारण यह है, कि जिस आधारपर युवाओंके विचारों की रचना होती है उसका ज्ञान उनको अलभ्य होता है। युवाओंकी दृष्टि से उनकी दृष्टि बिल्कुल भिन्न एवं रूढ या स्थायी हो गई होती है। इसलिये उनकी परिस्थितिमें वे अपने विचारों को नहीं घटा सकते। युवा लोग जिस प्रगतिकी सिद्धिकी इच्छा करते हैं, उसको वृद्धलोग अपनी असहिष्णुतासे रोकते हैं इसी लिये वृद्ध लोगोंको विशेषतया सहिष्णुता रखनी चाहिये। उनकी पदवी के साथ अमुक प्रकार की सत्ता का सम्मेलन रहता है, और उस सत्ताके बलपर वे नये आचार विचार के आविर्भाव को रोक सकते हैं। इस बात में कोई शक नहीं, कि जो बात बिल्कुल ठीक नहो या जो करना अनुचित हो या जो त्याज्य हो, उसके विरुद्ध असहिष्णुता प्रगट करना भी आवश्यक है। सहिष्णुता विशाल और बड़े मनका चिह्न है और इसी में उसकी खास खूबी है।

धार्मिक सहिष्णुता भारत में परा पूर्वसे चली आती है। इसका प्रमाण यह है कि प्राचीन समयमें जब दूसरे देशों में स्वतंत्र

मनन बहुत कम होने दियाजाता था, तब भारत में हमारे ऋषि मुनि स्वतंत्र चिंतन करतेथे, और एक दूसरे के मतों को सहन करते थे। एक प्रकार से प्रत्येक ऋषि द्रष्टा होतेथे। प्रत्येक अपनी दृष्टि से विश्वके गहन प्रश्नोंका चिंतन करतेथे, और उसीका परिणाम हमारे उपनिषद और प्राचीन दर्शन हैं। धर्म में सम्पूर्ण श्रद्धा होने परभी इतने सारे स्वतंत्र तत्त्व दर्शनों का विकास हो सका, यह बातही बुद्धिकी स्वतंत्रता और सहिष्णुता का प्रमाण है, ऐसा हम कह सकते हैं। यूरोप के बहुत से देशों में धार्मिक मतभेद के कारण स्वतंत्र धर्म विचारकों और परधर्मानुयायियों का खून बहने के अनेक दृष्टांत हैं। इसके अतिरिक्त नियमित रीतिसे होने वाले धार्मिक युद्धभी इतिहास में विख्यात हुये हैं। भारत का इतिहास परिश्रम और सूक्ष्मतासे देखनेपरही उसमें से ऐसी दुराग्रही असहिष्णुता इस हद तक गई हुई शायद ही मिलेगी। अपने धर्म के लिये हिन्दुओंको मान और अभिमान होने परभी धर्म प्रवर्तन का काम हिन्दुओंने कभी हाथमें नहीं लिया, और धर्म प्रवर्तक संस्थाएं भी स्थापित नहीं कीं; इससे भी प्रदर्शित होता है कि धर्म को वे स्वतंत्र चिंतन का विषय मानते थे; इस लिये जिस प्रकार धार्मिक विचार करने के लिये वे अपने को स्वतंत्र मानते थे, उसी प्रकार ऐसा स्वातंत्र्य औरोंको देने के लिये भी सदा तत्पर रहते थे। अबभी यह बात हिन्दू धार्मिक जीवनमें देखी जाती है। धर्ममें सहिष्णुता रखनेके विषयमें हमारे वेदांती सुधारक अखा बहुत कुछ कहते हैं।

" खटदर्शनना जुजवा मता, मांहोमांहे खाधी खता,
एकनुं थाप्युं बीजो हणे, अन्यथी निजने अधिको गणे.
अखा ए अंधारो कुवो, झगडो भागी कोई न मुओ.
समजी रहे तो सघळो लाभ, काया क्लेशे वाधे गाम.

अर्थ:-"षड्दर्शनके जुदे जुदे मत हैं और उनका एक दूसरेसे विरोध है। एकका स्थापित किया हुआ दूसरा काटता है और अन्यसे अपनेको बड़ा गिनता है। अखा कहते हैं कि यह अंधेरा कुंआ है। झगडा छोडके उसमें कोई मरता नहीं। अच्छी तरह समझलें तो सबमें लाभ है।"

इसी तरह तुच्छमतभेद से परे रहने वाला धर्मविचार नरभेराम भी निम्न लिखित शब्दोंमें प्रदर्शित करते हैं:—

" नथी मृत्तिकामां प्रभु नथी पित्तलमां पेठो
कनकनी मूर्ति करे, नथी ईश्वर महीं बेठो.
नथी घोरोमां पीर, नथी जैनोंने देरें,
असल जुए नहीं कोई, सहु नकलोने हेरे "

अर्थ:-" मृत्तिकामें प्रभु नहीं है न उसने पीतलमें प्रवेश किया है। सोनेकी मूर्ति बनाते हैं उसमेंभी आकर नहीं बैठता है। कब्रोंमें पीर नहीं है, न कोई देव जैनों के देहरोंमें है। कोइ असली बात तो दिखती नहीं और सब नकलोंके पीछे दौडते हैं।

हिन्दू धर्म से अलग होजाने वाली भारत के धर्म की अन्य शाखाओं में बौद्ध धर्म का स्थान सबसे वड़ा है। सहिष्णुता के

उदात्त उदाहरण बौद्ध धर्म के प्रवर्तन के इतिहासमें मिलते हैं। बौद्ध धर्म केवल सामान्य लोगोनेंही स्वीकृत नहीं कियाथा, परंतु महाराजा अशोक ने उसको राज्यसे स्वीकृति और पुष्टि दीथी। ऐसा होनेपरभी अशोकने अपने मान्य धर्म का प्रचार असहिष्णु-कार्यों से नहीं किया। अशोक की उदारता और दान के पात्र बौद्ध धर्म के अनुयायी जितनी संख्या में थे उतनी संख्यामें अन्य धर्मावलंबी भी थे। धर्म प्रवर्तन के संबंधमें भी बौद्धस्तूपोंपर जो शासन निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें सहिष्णुतापर अवश्य भार दिया गया है।

भारत के इतिहासमें अकबर बादशाह की सहिष्णुता सुवर्ण के अक्षरोंसे अंकित हुई है। उस सहिष्णुताके परिणाम में ही वह अपनी शक्तिसे हिन्दुस्तानमें एक प्रख्यात सल्तनतकी स्थापना कर सका। इसके विरुद्ध औरंगजेब में वही शक्ति होने परभी, अपनी कट्टरता के परिणाममें, उस सल्तनत को उसने छिन्न भिन्न कर डाली।

जैसे ऊपर कह चुके हैं, आजकल राजकीय बातों में सहि-ष्णुतारखना बहुत आवश्यक है। सारी दुनिया में यह समय अनेक परिवर्तनोंसे ज्वलंत हो रहा है। हिन्दुस्तान में भी नई जागृति बहुत बडे परिणाममें देखी जाती है। राजा प्रजा दोनों को सहिष्णुतासे लाभ हो सकता है।

आत्मसमर्पण—जिन संयोगों में हमें यह मालूम हो, कि सामाजिक व्यवस्थामें हमारे विचारों से भिन्न विचारोंकी आवश्यकता है और हमारे विचारों का दमन करनेकी तरफ समाज की वृत्ति है, ऐसे संयोगोंमें सहिष्णुताका रखना बहुत कठिन हो जाता है। ऐसे संयोगोंमें सहिष्णुता का पालन किया जाय, तो वह आत्म-समर्पण का एक प्रकार है। ऐसे प्रसंगोंमें यह इष्ट है कि समष्टि के लिये एक व्यक्ति दूसरों के मत का स्वीकार करे।

आत्मसमर्पणका स्वरूप कैसा हो सकता है, इस विषयमें भिन्न भिन्न विचारकोंने भिन्न भिन्न समयपर बहुत कुछ विवेचन किया है; तथापि उसका कुछ निश्चित परिणाम नहीं हुआ है। अक्सर कहा जाता है, कि आत्मसमर्पण एक सिद्धांत नहीं हो सकता है; तो भी आत्म समर्पण क्या, इस विषयमें मनुष्यों को सामान्य रीतिसे कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य होता है, और आत्म-समर्पण व्यावहारिक प्रसंगों में देखा भी जाता है, इस बातका उनको निश्चय होता है। प्रत्येक माताके अपने बच्चों के प्रति कर्तव्योंमें आत्म समर्पण इतना नियमित और प्रकट दिखाई देता है, कि उसकी व्यापकता के कारण हमारे मनपर उसका प्रभाव बहुत नहीं पड़ता है। प्रत्येक माताका आत्म समर्पण करना ऐसा सामान्य समझा जाता है, कि उसका अभाव हमें आश्चर्य चकित करता है, न कि उसका आस्तत्त्वि।

माता के आत्म समर्पण संबंधी पुराने गुजराती पाठ्य पुस्तक में दिये हुए कविदलपतराम के भुजंगी वृत्त पढने योग्य है:—

" हतो हुं सुतो पारणे पुत्र नानो,
रडुं छेक तो राखतुं कोण छानो ?
मने दुःखी देखी दुःखी कोण थातुं ?
घणा हेतवाळी दयाळीज मा तुं "

अर्थः—जब मैं छोटा बच्चा था और झूलने में सोकर खूब रोता, उस समय मुझे कौन शांत करता था ? मुझे दुःखी देख कौन दुःखी होता था ? हे प्रेमवाली और दयालु माता यह तू ही होती थी।

बालकों का दुःख असह्य हुआ तबही सुदामाकी स्त्रीने सुदामाको श्री कृष्ण के पास जाने के लिये आग्रह किया। श्रृंगार, हास्य और करुण रसमें अद्भुत सफलता से विचरती हुई प्रेमानंद की वाणी उस प्रसंग का निम्नरीतिसे वर्णन करती है

भिक्षानुं काम कामिनी करे, कोना वस्त्र धुए ने पाणी भरे.
जेम तेम करी लावे अन्न, निज कुटुंब पोषे स्त्री जंन
घणा दिन दुःख घरनुं सह्युं, पछे पूरमां अन्न जडतुं रह्युं.
बाळकने थया बे उपवास, त्यारे स्त्री आवी सुदामा पास.
" हुं विनवुं बे जोडी हाथ, अबळा कहे सांभळीए नाथ
बाळक भूख्यां करे रुदन, नग्रमा नथी मळतुं अन्न

भूख्यां बाळक जुए मानुं मुख, स्त्री कहे स्वामीने दुःख
जेम जळविण वाडी झाडवां, तेम अन्नविण बाळक बाहुआं
वाय टाढ बाळकडां रुए, भस्म मांहे पेसीने सुए.
हुं ते धीरज केई पेरे धरूं, बाळकनुं दुःख देखीने मरूं ”

अर्थः—स्त्री भिक्षाका काम करती, किसीके वस्त्र धोती और किसीका पानी भरती। किसी न किसी सूरतसे अन्न लाकर आपने कुटुंबका वह स्त्री पोषण करती। बहुत दिन तक घरका दुःख सहन किया और जब नगरसे अन्न मिलना बंद हो गया और बालकोंको दो उपवासभी होगये, तब वह सुदामाके पास गई, और कहने लगी “मैं अबला हाथ जोड कर बिनती करती हूं, हे नाथ! सुनिये। बालक भूखके मारे रुदन करते हैं और नगरसे अन्न नहीं मिलता। भूखे बाल माके मुखकी ओर ताक कर देखते हैं यह दुःखमैं आपसे कहती हूं जैसे बिना जलके बागके दरख्त सूख जाते है, वैसे बिना अन्नके मेरे प्यारे बच्चे सूख रहे हैं। ठंड लगनेसे वे रोते हैं और राखमें जाकर सोते हैं। मैं किस तरह धीरज रख सकती हूं? बालकोंका दुःख देख कर मृतप्राय हो जाती हूं।

आत्मसमर्पणकी माताकी भावना के लिये उसके भावपर आधारभूत है नकि किसी विशेष हेतुपर, यह बात हमें माननी पडेगी। तथापि उस भावना का पूरा ख़याल केवल इस प्रेरणा के आधारपर नहीं दिया जासकता। इस के विरुद्ध हमें यह कहना

चाहिये, कि माता की आत्मसमर्पण की वृत्ति में, प्रत्येक कुटुंब में स्त्रीस्वभावकी सुंदर और गहरी नैतिक भावनाएं कई वर्षों से एकत्रित हुई दिखाई देती है।

प्रत्येक युगमें आत्म समर्पणके दृष्टांतों को मनुष्य मात्रने प्रशंसा के योग्य माना है। ऐसे दृष्टांत जीवन के प्रत्येक कार्य क्षेत्रमें प्रायः मिलते हैं। जिन दृष्टांतों का हमारे मनपर बहुत अधिक प्रभाव पडता है, उनमें आत्मसमर्पण के साथ हिम्मत भी अग्रभाग में देखी जाती है परंतु हम निःशंक रूपसे कह सकते हैं कि जिस आत्म समर्पण को हम उत्तम प्रकार का मान सकते हैं वह ऐसा होता है कि जिसमें दूसरों के हित के कारण शांतता और नियमित रीतिसे हमने हमारे सुखादिका त्याग किया हो। आत्मसमर्पणके प्रभावशाली दृष्टांतोंमें आत्मसमर्पणके साधारण कामोंके दृष्टांत मिलते हैं। इनमें मनुष्य अमुक कामके योग्य उच्च नैतिक प्रयत्न करता है, और इसी तरह नैतिक आदर्शोंको अमुक प्रसंगोंमें फलीभूत करता है। आत्मसमर्पणके अन्य दृष्टांत ऐसे होते हैं कि उनमें मनुष्य अमुक प्रसंग परही नहीं, परंतु सारे जीवनमें समान रीतिसे आत्मसमर्पण करता रहता है। यह दूसरे प्रकारका आत्मसमर्पण अधिक कठिन है क्योंयि प्रथम प्रकारका आत्मसमर्पण क्षणिक, सामयिक, अथवा प्रासंगिक होता है, परंतु दूसरे प्रकार का आत्मसमर्पणनित्य और नियमित होता है। आत्मसमर्पण करनेवाले मनुष्यको जो संतोष मिलता है, वह आत्मसमर्पण में

रहनेवाली उत्तमता के अनुभव का आंतर संतोष है। यह बाततो सब जानते है, कि आत्मसमर्पण करनेवाले मनुष्यकी अपेक्षा अन्य मनुष्य उस आत्मसमर्पण के परिणाम में होनेवाले सुखों को अधिक भोग सकते हैं।

प्रासंगिक आत्म समर्पण के दो उदाहरण हम इस स्थानपर देंगे। प्रथम उदाहरण पृथ्वीराजके संबंधमें है। चंद बारहठ वर्णन करते हैं; कि जब पृथ्वीराज सम्बत् १२०० के वर्षमें घोर संग्राम में मूर्छित होकर पड़ेथे, उस समय कुछ गिद्ध पक्षी उनकी आखें नोचखाने के लिये इकट्ठे हुए। यह देखकर बीर शिरोमणि संयम राव व्याकुल हुए। वेभी घायल होकर ज़मीनपर पड़ेथे, इस लिये उनसे और तो कुछ न होसका, परंतु अपने शरीरका मांस काट काट कर पृथ्वीराजकी आखोंपर फेंकते रहे। जब तक कि पृथ्वीराज मूर्छामेंसे जागृत न हुए गिद्ध उस मांसको खाते रहे; और पृथ्वीराजकी आखें बच गई। कैसा उत्तम आत्मसमर्पण!

दूसरा उदाहरण मुगल बादशाह बाबरका है। यह उदाहरण सामान्य रीतिसे सुविदित है। जब उनका पुत्र हुमायूं मरण शैय्या पर पड़ा था, तब बाबरने उसके पलंगके इर्दगिर्द प्रदक्षिणा करके प्रभुको प्रार्थनाकी कि उसका रोग मुझे देकर मेरे पुत्रको चंगा कीजिये। इसका परिणाम यह हुआ कि हुंमायूं को आराम हो गया और बाबर मरण वश हुआ। यद्यपि सामान्य जन

समूह की कल्पनापर इस घटनाकी आकस्मिकता प्रबल प्रभाव डालती है, तथापि वस्तुतः उसका गौरव उस अकस्मात् के कारण नहीं, परंतु उसमेंकी नैतिक भावना के कारण है; उसमेंके आत्मसमर्पणकी परिसीमा के कारण है। वह आत्मसमर्पण केवल काल्पनिक नहीं किंतु व्यावहारिक और वास्तविक था।

नित्य और नियमित आत्म-समर्पण केभी दो उदात्त उदाहरण हम देंगे। पहला उदाहरण महाभारतके एक आकर्षकपात्र भीष्मपितामह का है। केवल पिताके सुखके हेतु और भविष्यमें कुटुम्ब क्लेश का कदापि संभवतक न रहे, ऐसी उदार वृत्तिसे ही ब्रह्मचर्य्य की विख्यात भीष्म-प्रतिज्ञा लीगई। इस प्रतिज्ञा की घटना प्रत्येक हिन्दु को सुविदित होनी चाहिये। परंतु प्रतिज्ञा का लियाजाना इस उदाहरण में आकर्षक बातनहीं है परंतु उस प्रतिज्ञा का जीवन के अवसान तक परिपूर्ण शुद्धतासे नियमित रूपसे पालन होना आकर्षक है। यहकहने में हमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता, कि भीष्म पितामह का साराजीवन एक प्रकार के आत्म समर्पण का मूर्तिमान् स्वरूप था।

दूसरा उदाहरण हमें माहात्मा गौतम बुद्ध के जविन में मिलता है। हम सब जानते हैं कि राज्य वैभव और कौटुम्बिक जीवनके सुखोंका त्याग करके बुद्धने अपने आत्माकी उन्नति और पीछे समाजकी उन्नति सिद्धकी।

विरक्तता अथवा वैराग्य वृत्तिः—आत्म समर्पणमें बहुधा किसी प्रकारका बाह्यफल अथवा प्रत्यक्ष लाभ असंभव ही है। जो लाभ है वह केवल आत्म संतोष है बहुधा आत्मसमर्पण करने वाले मनुष्यको अमुक प्रकारकी निष्फलता अथवा हानिका सामना करना पडता है। इस निष्फलताके भावका अनुभव सामान्यतया वृद्धावस्थामें अधिक संभवित है। मनुष्य जो कुछ जीवनमें सिद्धकर सकाहो, वह उसको युवावस्थामें निर्मित की हुई आशाओंकी अपेक्षा वृद्धावस्था आने पर बहुत कम मालूम होता है; इस लिये उस समय वैराग्य वृत्ति धारण करना अधिक आवश्यक है। विरक्ततासे एक प्रकारका धैर्य आजाता है। विरक्ततासे मानसिक शांति हो जाती है। जो मनुष्य यह मानसके कि मैंने जितनाहो सका प्रामाणिकतासे किया है, और इसके साथही यह भी मानले, कि अंतमें शीघ्र या विलम्बसे, सत्य और श्रेय काही जय होगा, उस मनुष्यके लिये वैराग्य वृत्ति अधिक सुलभ है। प्रत्येक देशके उत्तम साधु और बीर मनुष्योंने दुःख और मृत्युको भी वैराग्यकी दृष्टिसे देखाहै, और इस दृष्टिमेंही इनका बल प्रकट होता है। सर्व साधारणको वृद्धावस्थामें इस वृत्तिकी अधिक आवश्यकता होती है। उस समय वह उसको पूर्ण रूपसे प्राप्तहो इस लिये उससे पहलेके समयमें ही उसका अभ्यास प्रारंभकरना चाहिये। यत्न करने परभी यदि श्रेयस्कर वस्तु कदाचित् अलभ्य प्रतीत हो तो उस समय सच्चेनीतिमान् मनुष्य सांसारिक घटनाओंकी ओर विरक्तता धारण करेगा।

वैराग्य वृत्तिके बल और गौरव का इस देशमें इतना अधिक स्वीकार हुआ है कि सच कहेंतो हिन्दू समाज आवश्यकतासे अधिक निवृत्ति-परायण बन गया है। वैराग्य-वृत्ति के महत्त्वका स्वीकार करके हम उस विषयमें कुछ उदाहरण और वचनोंका उल्लेख करें। हिन्दुओं के ऋषि मुनिओंने जीवनके चार आश्रम स्थापित किये हैं; उसमें से दो वानप्रस्थ और संन्यास विरक्तताकी नींवपर नियमित हुए हैं। इस पुस्तकके पिछले भाग में ययाति राजाका सुंदर आख्यान दिया गया है; उसका सारभी यही है कि विषयोंकी ओर वैराग्य वृत्ति रखने से ही स्थायी संतोष मिल सकता है। भर्तृहरि के "वैराग्य शतक" में के निम्न लिखित श्लोकों से विरक्तता की सुंदरता और नीतिमत्ता का ज्ञान हमें होता है।

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला
रागग्राहवती वितर्क विहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त सुदुस्तराति गहना प्रोतुंगचिन्तातटी
तस्याः पादगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

आशारूपी एक नदी है; उसमें मनोरथ रूपी जल है; तृष्णा की लहरों से वह चलायमान होता है, उसमें राग, अर्थात्, सांसारिक विषयों में आसक्तिरूपी मगर हैं, तर्क वितर्करूपी पक्षी उसके किनारे पर हैं, वह धैर्यरूपी वृक्षका विध्वंस करती है; मोहरूपी आवर्तोंके कारण वह बहुत दुस्तर है; वह बहुत गहरी है; चिंता-

रूपी उसके ऊंचे तट हैं, विशुद्ध मनवाले योगियों में श्रेष्ठ पुरुष इस नदी को पार करके आनन्दका अनुभव करते हैं। **अर्थात्**, आशा के प्रति उदासीन वृत्ति रखनेसे ही परम संतोष सुलभ है।

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदिवा
मणौ वा लोष्ठेवा कुसुमशयने दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति जिवसाः
क्वाचित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलयतः॥

अर्थात्, सर्प हो वा फूलकी माला हो, बलवानू रिपुहो या मित्र हो, मणिहो वा मिट्टी का ढेर हो, फूलकी शय्या वा पत्थर हो, घास हो, वा स्त्री मंडल हो, उन सर्व के विषय में मेरी समान उदासीन वृत्ति हो जावे और मेरे दिन "शिव शिव" का जप करते हुए किसी पवित्र अरण्य में व्यतीत हों।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याता
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भोगों को हमने नहीं भोगा है किंतु भोगोंने हमें भोगा है हमने तप नहीं किया है, किंतु हमही (वासनाओंसे) संतप्त हुए हैं; समय नहीं गया है किन्तु हम ही (हमारा आयुष्य) ही गया है तृष्णा जीर्ण नही हुई हैं किन्तु हमही जीर्ण हुए हैं। जीवनमें

जिसने वैराग्य वृत्तिका अभ्यास न किया हो, उसको इस प्रकारकी चिंता दुःख देती है। इस लिये मनुष्यको चाहिये कि विषयों से बद्ध न होकर जीवनके प्रत्येक समयमें वैराग्य वृत्तिका पोषण करे।

आयुः कल्लोललोलं कतिपय दिवस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः।
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥

अर्थः—आयुष तरंगकी तरह अस्थायी है; यौवन की शोभा केवल कुछ ही दिन ठहरती है; धन संकल्प की तरह चल है; भोग मेघके समय होने वाली विजली के समान हैं; प्रिया के आश्लेषभी वैसे अनित्य हैं; अतः संसार रूपी भव सागर को तैरने के लिये तुम ब्रह्ममें चित्त लगाओ, अर्थात् मनुष्य ब्रह्म में चित्त लगाने से परम आनंद प्राप्तकर सकता है।

कवि अखाने वैराग्य के स्वरूपका बहुत सुंदर वर्णन किया है उन्हीं के शब्दों से इस विषय को हम समाप्त करते हैं:—

"जो उपजे तो भलो वैराग्य, बीजां कृत्यनो न छत्रे पाग
हेलामां हरि पामे वेद, जो उपजे साचो निर्वेद.
वैराग्य विना ते उपजे खेद, मारुं तारुं भेदाभेद.
सूरज त्यम साचो वैराग्य, पडतां न जुए जाग कुजाग.

सहुने तेज करे ते सही, पडछायो पोतामां नहीं.
ज्यां उपजे साचो निर्वेद नोहे अखा ते भेदाभेद. ”

अर्थ—यदि सच्चा वैराग्य उत्पन्न हुआ हो तो दूसरे कृत्योंकी आवश्यकता नहीं रहती है। यदि सच्चा निर्वेद उत्पन्न हो जाय तो सहज हरि मिल सकते हैं। विना वैराग्यके मेरे तेरे का भेदाभेद और खेद होते हैं। सच्चा वैराग्य सूरजके समान है; वह यह नहीं देखता कि मेरा प्रकाश कहां पड़ रहा है; सब को तेज देता है और अपने में छाया नहीं पडने देता जहां सच्चा निर्वेद होता है वहां भेदाभेद नहीं हो सकते हैं।

क्षमा:—विरक्तातसे जो शांति प्राप्त हो सकती है, उसको दो बातें विशेष प्रकार से रोकने वाली होती हैं। किसीका हमने बुरा कियाहो? उसका हम सांत्वन न करें, अथवा हमारा बुरा करने वालेको हम क्षमा न करें, इनदो बातोंसे हमारे मनकी शांति में क्षोभ होता है। उच्चतम नैतिक जीवनमें “ अन्तःकरणके दंश ” का विशेष अनुभव होता है। इस दंशके क्लेशका जैसा अनुभव संत लोगोंको होता है, वैसा अन्य प्राकृत मनुष्यों को नहीं होता। ऐसे क्लेश के प्रसंग कम करने और आनन्दमय वैराग्य वृत्ति का विकास करने के लिये क्षमाका सद्गुण मनुष्य जीवन में आवश्यक है। मनुष्य को क्षमा करनी चाहिये और उसको क्षमा मिलनी चाहिये। किसीने हमारा बुरा किया हो, तो भी उसके प्रति बहुत उदार विचार, उदार कृत्य, उदार भाव प्रदर्शित करनेका निश्चय करना

यही क्षमा है। जिसका हमने बुराकिया हो वह जब हमारे प्रति क्रोधके सब विचारका त्याग करे, तब हमें क्षमा मिलती है। इसी लिये कवि श्यामलने "चन्द्रथी निर्मल क्षमा" कही है।

इस सद्गुणके विषयमें कभी कभी भूल होती है, क्योंकि उसका यह अर्थ लिया जाता है, कि कोई मनुष्य जब हमारा बुरा करे उसी समय उसको क्षमा कर देनी चाहिये, और जब हम किसीका बुरा करें, उसी समय उसको क्षमा मिल जानी चाहिये। परंतु वास्तवमें क्षमा प्राप्तिके लिये प्रथम सच्चा और सतत नैतिक प्रायश्चित्त होना चाहिये,। जिस मनुष्यने बुरा काम किया हो, उसको पहले ज्ञान होना चाहिये कि उसने यह बुराकाम किया और उसके लिये उसको शोक होना चाहिये। तत्पश्चात् जिसकी हानि हुई हो उसके क्रोध की शांतिके लिये और क्रोधके स्थानपर मित्र-भावका उद्भव होनेके लिये कुछ समय व्यतीत होना चाहिये। नैतिक आदर्शकी सफलताकी आशाका उत्तमबीज क्षमाकी वास्तविक सत्यतामें है क्योंकि पहले होजाने वाली बुरी घटनाकी अनर्थता क्षमा के बलसे नष्ट होती है, और आगे होने वाली अच्छी घटनाका प्रारंभ होता है। क्षमाके बलसे हमारे शत्रु बहुधा हमारे मित्र बन जाते हैं। इस विषयमें निष्कुलानंद के वचन ध्यानमें लेने योग्य हैं:—

"क्षमावंत संत अत्यंत सुख भोगवे, पामें दुःख क्षमानी खोटवाळा;
सोनुंरुपुं जेम सहे घण घावने, जोइए काचने वळी रखवाळा."

अर्थः—क्षमावंत संत अत्यंत सुख भोगते हैं; क्षमा रहित लोग दुःखके

भागी होते हैं। सोना और चांदी हथोडेके आघातोंको सहन करते है, किंतु काचको संभालकर रखना पडता है।

द्यूतके प्रसंगपर युधिष्ठिर; एवं उनकी आज्ञासे उनके भाइयोंद्वारा प्रदर्शित किया गया क्षमाका दृष्टांत सुविदित है। यदि उस प्रसंग पर पांडव क्षमा नहीं करते, तो द्यूतके पश्चात् ही महाभारत का युद्ध हो जाता; और पांडवोंका क्रोध उस युद्धका कारण हो कर वे नीतिके लिये सुविख्यात होने की अपेक्षा अनीतिके लिये निंद्य होते। क्षमाका गौरव इस पुस्तकके पिछले भागमें वर्णन किया गया गया है। निम्न लिखित श्लोकभी उसी गौरवको सुव्यक्त करता हैः—

" नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा ॥ "

अर्थात्, पुरुषका आभरण उसका रूप है, उसके रूपका अलंकार सद्गुण है सद्गुणकी शोभाज्ञान है, और ज्ञानकी भी विभूति क्षमा है।

छटा प्रकरण

चारित्र्य, और सद्गुणों का साहचर्य

इस भागके पिछले प्रकरणों में नैतिक जीवन के सद्गुणों में से कुछेकका वर्णन हमने किया है। प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपने

जीवन में अथवा उसके परिचित मनुष्यों के जीवन में इन सब सद्-गुणों के उदाहरण मिलेंगे। स्वयं अपने जीवन में उनको विकसित करने और अन्य व्यक्तिओं के जीवनमें भी उनको उत्पन्न करनेके लिये भी वे उदाहरण उपयुक्त होंगे; इन सद्गुणोमेंसे एक एक सद्गुण नैतिक जीवनके एक या दूसरे पहलूका संगठन करनेमें सहायक होगा। परंतु ये सब सद्गुण न्यूनाधिक अंशमें एक दूसरे से भिन्न और पृथक् हो, इसतरह हमने उसका वर्णन किया है। नैतिक जीवन की ओर देखने के लिये यह केवल एक दृष्टि है। इस हरएक सद्गुणको साधने के लिये हम प्रयत्न कर सकते हैं, करते हैं और करना चाहिये; और हरएक दुर्गुण का त्याग करने के लिये भी इस रीतिसे प्रयत्न करना उचित है। इन सब सद्-गुणों के विषयमें क्या क्या आवश्यक बाते हैं, उनका खयाल रखकर हमारे और दूसरों के विचारों, शब्दों या कृत्योंपर हम टीका कर सकते हैं, करते हैं, और करना चाहिये। इन सबके अतिरिक्त मनुष्य सर्वांशमें अच्छा है या बुरा और समग्र रीतिसे जीवन की ओर उसकी कैसी दृष्टि है, यह निश्चित करने का प्रश्न उसके चारित्र्यसे संबंध रखता है और वह पहले प्रश्नसे भिन्न है; अर्थात नैतिक विवेचन मनुष्यके जुदेजुदे कृत्यों के संबंधमें एवं उसके जीवन की समग्र दृष्टिसे, यानी उसके चारित्र्य के संबंधमें किया जा सकता है। यह बात तो प्रकट ही है कि कि मनुष्यके कृत्यों और चारित्र्यके बीच बहुत गाढ संबंध है। यह बहुत मह-

त्त्वकी बातहै कि मनुष्य का व्यक्तित्त्व उन्नत होना चाहिये; क्यों कि वह सारी दुनिया को जीतकर अपनी करले, परंतु अपने आत्माको खो बैठे, अर्थात् आत्माके गौरव को गंवा दे तो उसका जीवन निरर्थक गिना जायगा; और उसका ऐसा गिना जाना बहुत ठीक ही है।

चारित्र्य को उन्नत करना बच्चोंका खेल नहीं है। जिसप्रकार एक एक बिंदुसे सरोवर भरता है, उसी प्रकार चारित्र्यरूपी सुंदर सरोवर छोटे छोटे कृत्योंके एकीकरणसे जो आदत पडती है उनसे परिपूर्ण हो सकता है। चारित्र्यका संगठन एक दिवस एक मास या ऐसे और छोटे समय विभागमें नहीं हो सकता है। उसके संगठनके लिये जो महत्त्वकी बात है वह अच्छी आदतोंका होना है। कभी कभी वह संगठन कम समयमें निर्मित होभी सकता है परंतु ऐसा होनेसे पहले अमुक दृष्टि दृढ और परिपक्व हो जानी चाहिये। जिस नैतिक चारित्र्यके लिये समाजकी स्तुत्य बुद्धि हो और जिससे मनुष्यको अपने गौरवका ज्ञान हो सके उसके लिये सतत प्रयास और समयकी आवश्यकता है। उत्तम चारित्र्यका संगठन प्रसंगानुसार पृथक् पृथक् सद्गुणोंका विकास करनेसे धीरे धीरे हो सकता है, और इसी लिये हमने सद्गुणोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया है। जो स्त्री या पुरुष पृथक् पृथक् सद्गुणोंका अपने जीवनमें सुव्यक्तरीतिसे अमल करते हैं उनमेंभी सुंदर नैतिक चारित्र्यके कइएक प्रकार देखे जाते हैं। उदाहरण एक मनुष्य विशेषरूपसे

परोपकारी हो दूसरा खासकर हिम्मतवर हो तीसरा सत्यशील और प्रामाणिक हो और चौथा विषेशतया स्वात्मार्पण परायण हो इससे मालूम हो जायगा कि सुंदर नैतिक चारित्र्यके स्थापनके लिये किसी में कोई सद्गुण अधिक सुव्यक्त हाता है तो किसीमें कोइ दूसरा सद्गुण अमुक व्यक्तिके विषयमें कौनसा सद्गुण सुव्यक्त होगा, यह बात उस व्यक्तिकी विशेषता जाने विना निश्चित नहीं हो सकती है; और इस लिये चारित्र्यकी गणना अथवा व्यक्तिओंके अच्छे या बुरेपनका विवेचन करनेके पहिले, हमें यह बात सदैव ध्यानमें रखनी चाहिये।

जो मनुष्य उत्तम से उत्तम प्रकारका नैतिक जीवन वितानेके लिये सहेतुक प्रयत्न करता हो उसको चाहिये कि वह उसके जीवनके भिन्न भिन्न अंशोंको सुसंगत बनानेके लिये प्रयत्न करे। उसको चाहिये कि जीवनकी सब बातें और जीवनके सब सद्गुण किसी एक दृष्टिसे, किसी एक साध्य नियमसे निर्णीत करनेका वह प्रयत्न करे। भिन्न भिन्न प्रसंगोंमें हमारा कैसा वर्ताव हो और हमारे कर्तव्योंको एक सूत्रसे कैसे संगठित किया जावे, इन बातोंका निश्चय करना हो तो इस विषयमें हमारी एक दृष्टि होनी चाहिये। यह अच्छी बात है कि साधारण रीतिसे, जिसमें एक सद्गुण हो उसमें अन्य सद्-गुणभी आते हैं और एक कर्तव्य अच्छी तरह करनेसे दूसरे कर्तव्य बहुत सुगम हो जाते हैं। उदाहरणार्थ जो मनुष्य सत्यशील होगा, उसमें प्रामाणिकता भी आवेगी, नैतिक मनोबल भी आवेगा अमुक प्रकारका आत्मसंयम भी आवेगा, कर्तव्य निष्ठाभी

आवेगी, और इस प्रकार एक सद्‌गुणसे दुसरे पुष्ट होगें। जो मनुष्य ईश्वरकी ओर के और समाज की ओर के अपने धर्मोंका पालन करता है; वह शायदही स्वयं अपनी ओर के कर्तव्यों के पालन में विजयी न हो। इसी तरह स्वयं अपने चारित्र्य का विकास करने से और व्यक्ति धर्मके कृत्य भली प्रकार करने से वह समाजकी ओरके अपने कर्तव्यों का अच्छी तरह पालन कर सकता है। अतएव पृथक पृथक् कर्त्तव्यों और पृथक् पृथक् सद्‌गुणों की ओर ध्यान देना जितना आवश्यक है, उतनाही आवश्यक नियमित चारित्र्य स्वयं अपने में एवं समाजमें विकासित करना भी है।

इस प्रकार अमुक आदर्श साधने की ओर नैतिक जीवन प्रयत्नशील बनता है। वह आदर्श ऐसा होता है कि उसमें सब सद्‌गुण संपूर्ण रूपसे विकसित हुए होते हैं। इससे व्यक्तियों के नैतिक चारित्र्य के उत्तम प्रकारों में ऐक्य स्थापित होता है और समाजके भिन्न भिन्न व्यक्तिओंमे उत्तम प्रकारका सामाजिक ऐक्य स्थापित होता है। जब ऐसी संपूर्ण रीतिसे एकता साधी जाय तब हम कह सकेंकि नैतिक आदर्श सिद्ध हुआ; परंतु हमें कहना चाहिये कि अधिकांश यह आदर्श सिद्ध नहीं होता है। जैसे हम देखते है कि समाजमें एक व्यक्तिका हित दूसरे व्यक्तिके हितसे स्पष्ट विरोध रखता है, वैसे एकही व्यक्तिके जीवन में भी भिन्न सद्‌गुण और भिन्न भिन्न कर्तव्य एक दूसरे के विरोधी होते हैं, इस प्रकार नैतिक एकता का भंग होता है, और नैतिक आदर्श की सिद्धि

में विक्षेप आजाता है। कभी कभी परोपकार सत्यवक्तृत्वका विरोधी होता है; शासनकी आवश्यकता का दान विरोध करता है, सुखभोगकी वृत्ति उद्योग और आत्म समर्पणका विरोध कर बैठती है; और अमुक व्यक्तिओंके छोटे मंडल का हित और समाजका हित परस्पर विरोधी होते हैं।

नैतिक जीवनकी वर्तमान परिस्थितिमें इन विरोधोंसे पैदा होने वाली मुश्किलातको हल करनेके लिये कोई निश्चित और सर्व-सामान्य नियम नहीं है। जो मनुष्य ऐसी कठिनाइयोंका अपने जीवनमें अच्छी तरह निराकरण कर सके उसको नैतिक जीवनमें कुशल समझना चाहिये। वह नैतिक द्रष्टा कहा जायगा। हम यह भी कह सकेंगे कि उसमें गहरी नैतिक प्रेरणा और अंतर्ज्ञानकी शक्ति है। ऐसे मनुष्योंकी बडी संख्या नहीं हो सकती है; और उनके व्यक्तिगत नियमोंसे सामान्य तत्त्व नहीं खोजा जा सकता है; परंतु इतना तो हम कह सकेंगे कि ऐसे कठिनाइयोंके प्रसंगों में अधिकांशमें जिस दिशामें बहुत लोगोंका हित हो उस दिशाका स्वीकार करनेसे निराकरण होना चाहिये। जिस प्रकार किसी कुटुंबकी अमुक व्यक्तियोंके हितकी अपेक्षा सारे कुटुंबका हित अधिक उच्चतर मानना चाहिये, उसी प्रकार अमुक मंडल या कुटुंबकी अपेक्षा अखिल समाजका हित नियमित रूपसे उच्चतर मानना चाहिये। समाज और व्यक्तिके हितोंके विरोधकी दशामें

इस प्रकार निराकरण हो सकता है। परंतु विशेष प्रसंगोंमें जब किसी व्यक्तिके जीवनके भीतरी तत्त्वोंमें विरोध उपस्थित हो, अर्थात् जब एक ही मनुष्यका अमुक कर्तव्य उसके दूसरे कर्तव्य का विरोधी होवे, अथवा उसका एक सद्गुण उसके दूसरे सद्गुणका विरोध करे तब ऐसे विरोध का निराकरण, यह बात नियमित रूपसे देखने पर हो सकता है, कि उसके चारित्र्य में कौनसा तत्त्व प्रधान पद रखता है; अर्थात् उसका प्रधान सद्गुण उसको किस दिशामें प्रेरित करता है। ऐसा मनुष्य उसके व्यक्तित्त्वके विशेष महत्त्वपूर्ण तत्त्वके अनुसार बर्ताव करेगा और उसका उत्तम नैतिक आदर्श उसको जिस दिशामें प्रेरित करेगा उस दिशामें वह जायगा। इस विषयमें उससे जितना बनसके उतना अच्छा बर्ताव करेगा। इससे क्या बन सकेगा इस बातका ठीक निराकरण उसके सिवा और कोई नहीं कर सकता है। यदि कोई मनुष्य इस प्रकार उससे बनपड़े ऐसा उत्तम बर्ताव करे, तो उससे हम किसी विशेष बातकी कैसे आशा रख सकते हैं? उससे विशेष वह क्या कर सकेगा? वह और केवल वही उसके लिये उत्तमसे उत्तम और संपूर्णसे संपूर्ण कर्तव्य है।

परिशिष्ट

‘ Let us rather try to understand what we really mean by Social Reform, and, recognising our deficiencies in the past, try to make our future action more spontaneous and intelligent, our progress more dependent on conscious and active endeavour. ”

His Highness Maharaja Sayajirao Gaekwar
(at the 18 th National Social Conference, 1904).

“सामाजिक सुधार वस्तुतः क्या है, इस बातको हम समझें, और हमारी भूतकालीन त्रुटियोंका स्वीकार कर, हमारी भविष्यत् की प्रवृत्ति अधिक् अंतःप्रेरित और प्रज्ञाशील करनेके लिये और हमारी प्रगति सहेतुक और उत्साह पूर्वक प्रयत्नके ऊपर अधिक आधार भूत करने के लिये हम प्रयत्न करें।”

श्रीमन्त महाराजा साहेब सयाजीराव गायकवाड़

आधुनिक हिन्दूजीवन में नैतिक क्षोभ कतिपय प्रश्न।

पूर्व और पश्चिमके विचारोंका संघठनः—कोई समय ऐसा था जब पूर्व पूर्व था और पश्चिम पश्चिम। परंतु भाप बिजली और विज्ञान के सामान्य उपयोग के बलपर पूर्व और पश्चिम के समाजोंका परस्पर समागम इतना बढ़ गया है, कि पश्चिमका साहित्य पश्चिमकी संस्थाएं और पश्चिममें समय समय पर होनेवाली प्रगति

का पूर्व को परिचय हो गया है, और इसी प्रकार पूर्वकी बातोंसे पश्चिम परिचित हुआ है। अब पूर्वको यह अज्ञात नहीं है, कि पाश्चात्य समाजकी वर्तमान प्रगतिमें आधिभौतिक सुधार ने सामाजिक एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रताकी भावनाने, और स्त्री पुरुष के समान अधिकारकी दिन व दिन अधिक बहलाती हुई सामाजिक भावनाने, कैसा प्रबल क्षोभ उत्पन्न किया है। यही नहीं परंतु "यथा राजा तथा प्रजा" अर्थात् राजकर्ताओं के रीतिरिवाज, उनकी संस्थाएं, और उनकी भावनाएं जैसी हों, वैसे रिवाजों, संस्थाओं और भावनाओंका, राजकर्ता के लिये प्रजाके पूज्यभाव के कारण, अनुकरणीय माने जाना, और इसके परिणाममें प्रचलित आचार विचारोंमें क्षोभ उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं है। यह अनुभव दुनियाके सामान्य अनुभव के अनुकूल है। तदनुसार हिन्दूजीवनमें क्षोभ उत्पन्न हुआ है, यह बात सुविदित है। यहां उस क्षोभ का नैतिक दृष्टिसे हम निरूपण करेंगे।

इस क्षोभके अनेक प्रकार हैं, और उसका अनेक दृष्टिसे निरीक्षण हो सकता है। परंतु यहां हम केवल नैतिक क्षोभ काही, केवल नैतिक दृष्टिसे विवेचन करेंगे; और उस संबंधमें इन तीन महत्त्वके प्रश्नों का विचार करेंगेः—

(१) राजकीय, (२) सामाजिक, (३) कौटुम्बिक

राजकीय क्षोभः—पूर्वमें राजा और प्रजाका संबंध पिता और पुत्र जैसा माना जाता है, और इस भावना के आधार पर

राजाके और प्रजाके धर्म की रचना होती है। जिस प्रकार पुत्रका पालन करना पिता का धर्म है और पिता के लिये प्रेमभाव रखना और उसकी आज्ञा मानना पुत्रका धर्म है, उसी प्रकार प्रजापालन राजाका धर्म और राजभक्ति और राजाज्ञापालन प्रजाका धर्म समझा जाता है। भारत में नृपतिसत्ताक राजपद्धति के अतिरिक्त अन्य-प्रकारकी राज्यपद्धति का अबतक कभी उद्भव नहीं हुआ है; और इसी कारण यहां राजकीय बातोंमें इन मूल विचारों का बल अब-तक प्रबल रहा है। आर्यनीतिके अनुसार राजा सर्वथा पूजनीय व्यक्ति है, और उसके कृत्यों की नुकताचीनी करना या उनकी अवगणना करना सर्वथा निंद्य है। राजाके धर्मका ऐसा उदात्त वर्णन किया गया है, कि उस धर्म को अनुसरने वाले राजाके लिये सादर प्रेम और पूज्यवृत्ति के अतिरिक्त और किसी वृत्तिकी प्रजा के लिये संभावनाही नहीं है। राजाके उत्तम आदर्श के तौरपर रामका चरित्र सदाके लिये चित्ताकर्षक है। राजधर्म और उत्तम राजा के विषय में "महाभारत" में अनुशासनपर्व के नीचे दिये हुए श्लोक विशेष अर्थसूचक हैं:—

आत्मरक्षा नरेन्द्रस्य प्रजारक्षार्थमीप्स्यते।

तस्मात्सततमात्मानं संरक्षेदप्रमादवान्॥

* * * * *

प्रजाकार्यं तु तत्कार्यं प्रजासौख्यं तु तत्सुखम्।

प्रजाप्रियं प्रियं तस्य स्वहितं च प्रजाहितम्।

प्रजार्थं तस्य सर्वस्वमात्मार्थं न विधीयते॥

राजाकी आत्मरक्षा प्रजारक्षा के लिये इष्ट है; इस लिये प्रमाद न करते हुए राजा सतत अपना रक्षण करे। प्रजाका कार्य ही राजाका कार्य, प्रजाका सुखही राजाका सुख, प्रजाका प्रियही राजाका प्रिय, और उसका हित प्रजाका हित है। उसका सर्वस्व प्रजाके लिये है, उसके लिये नहीं।

अर्थात् राजा और प्रजाके श्रेयका संपूर्ण ऐक्य है, इस विचार पर ही राजधर्मका आधार है और इसी विचारके परिणाममें यद्यपि हिंदुस्तानके इतिहासमें कईवार क्षोभ हुऐ हैं और राज्यक्रांति हुई है तोभी प्रजाने राजाके विरुद्ध कदापि हाथ नहीं उठाया है।

राजाके लिये पाश्चात्य भावना इस पूर्वकी भावनासे भिन्न है। पश्चिमके बहुतसे देशोंमें राजा एक सामान्य पुरुष जैसा ही गिना जाता है और राजशासित संस्थाकाभी अधिकांशमें वहांध्वंस हो गया है। राजा और राज्य इन दोनोंपर टीका करनेका प्रजाको वहां संपूर्ण रीतिसे अधिकार है और इस अधिकार के परिणाममें वहां प्रजासत्ताक राज्य और राज्यमें प्रजासत्ताक तत्त्व किस प्रकार विकसित हुए हैं और हो रहे हैं, यहबात पूर्वमेंभी दिन प्रति दिन अधिकाधिक सुविज्ञात होती जारही है। राज्यसंगठन और राज्य-संस्थाओंके विषयमेंभी मनुष्यमात्रकी समानताका पश्चिममें अधिकाधिक स्वीकार होरहा है, और इसके बलपर सत्ताके उपभोगका समर्थन केवल पात्रत्व और गुणकी योग्यताके आधारपरही किया जाता है। लोकमतमें जो गुणवान हो वह ही राजा होना चाहिये

यह बात अधिकाधिक स्वीकृत होती जारही है, और इसका अमल भिन्न भिन्न पाश्चात्य देशोंके राज्यसंगठन में होने वाले प्रजासत्ताभिमुख परिवर्तनोंमें देखा जाता है।

मनुष्य मात्र अपनी स्थितिकी औरोंकी स्थितिसे तुलना करते हैं, और परिणाममें उनको संतोष वा असंतोष होता है। प्रजाके अधिकार की समानताकी भावनाने हिन्दुस्तानमें प्रचलित संस्थाओं की ओर असंतोष उत्पन्न किया है। विना किसी तरह की शर्तके राजा और प्रजा के संबंध को पिता और पुत्र के संबंध के समान मानने की नीति अब हिन्दुस्तानमें स्वीकृत नहीं हो सकती है। तथापि साथही इसके प्रजासत्ताक संस्थाओं का भी संपूर्ण स्वीकार नहीं होता है। अबभी सद्भाग्यसे हिन्दुस्तानमें राजाके लिये पूज्य भाव मौजूद हैं। केवल यही अंतर हुआ है कि पहले उस पूज्य-भाव का अंधश्रद्धासे स्वीकार होता था, और अब पश्चिमके सहवास और पश्चिमके परिवर्तनोंके ज्ञानके कारण उसका उस प्रकार स्वीकार नहीं होता है। राजाके लिये पूज्यबुद्धि कायम रही है, परंतु उसका आधार राजाओंमें रही हुई योग्यताके ऊपर अधिकाधिक माना जाने लगा है। इस बातका स्पष्ट और सुंदर उदाहरण, केवल बडोदा राज्यकी प्रजाही नहीं, किंतु समस्त हिन्दुस्तानकी प्रजा श्रीमान सरकार महाराज सयाजीराव गायकवाड की ओर जिस अतुल्य पूज्यभाव से देखती है, इससे प्राप्त होता है।

इसप्रकार दिनप्रतिदिन पश्चिमके विचारों के प्रभावसे राजा और प्रजाके संबंधमें समानता की नीति अधिकाधिक स्वीकृत होगी। पुराने विचारों में और भी परिवर्तन होगा, राज्यसंस्थाओं के संबंधमें "प्रजा मेरे लिये है"—यह नीति नहीं परंतु "महाभारत" से ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोकों में दी हुई नीति जो बहुत समय से विस्मृत हो गई है "मैं प्रजाके लिये हूं" इस नीतिका अधिक विस्तारसे स्वीकार होगा ऐसा समय का परीक्षण सूचित करता है।

सामाजिक क्षोभः—प्रत्येक व्यक्तिका मूल्य व्यक्ति के तौर पर समान है, ऐसी व्यक्तिसमानताकी भावना हिंदुस्तानमें पश्चिम से आई है। समानताकी इस भावनाको आर्थिक और वैज्ञानिक परिवर्तनोंने परिपुष्ट किया है। प्रचलित नीति संबंधोंमें उस भावनाने नीचे निर्दिष्ट की हुई सामाजिक बातोंमें विशेष जागृति और क्षोभ उत्पन्न किये हैं।

(१) जातिकी संस्था। (२) स्त्री की ओर सम्मानभाव। (३) अन्त्यज वर्गका उद्धार। (४) परोपकार और दानकी संस्थाएं। (५) गरीब और धनवान् के संबंध।

(१) जातिकी संस्था—जन्मसे ही मनुष्य को अमुक सामाजिक उत्कृष्टता वा अधमता, और अमुक प्रकार के सामाजिक बंधन प्राप्त होते हैं, इस बात का हिन्दू शास्त्र समर्थन करते हैं। परंतु व्यक्ति मात्रकी समानता और स्वतंत्रताकी भावना के प्रभाव

से व्यक्ति स्वातंत्र्य में विक्षेप करनेवाले जाति संस्था के रीति रिवाज अब चर्चा और प्रहार के विषय हुए हैं। व्यक्ति के स्वतंत्र वर्तनमें विक्षेप करना यह केवल उसको तकलीफ देने के बराबर नहीं है। नैतिक दृष्टि से भी उसका विचार हो सकता है। जिस स्वतंत्रताको भोगनेका प्रत्येक मनुष्यको, उसके मनुष्य होने के कारण, अधिकार है, उस पर समाजका अनुचित आक्षेप होवे, तो वह सामाजिक अन्याय है। जातिके विरुद्धकी वृत्ति इस विचारसे समर्थित हो सकती है। जाति के विरुद्ध नैतिक क्षोभ दिन ब दिन अधिक वृद्धिंगत होगा और परिणाममें जहां जातिकी सत्ता अन्याय रूप होगी वहां उसका नाश होगा, ऐसी आशा नैतिक प्रगतिसे हम रख सकते हैं। जातिकी संस्था वर्तमान समयमें नीतिकी कैसी विरोधी हो रही है उसका ठीक अनुमान, श्रीमान् महाराज साहेब सयाजीराव गायकवाडके (सन १९०४ ई. की.) सामाजिक परिषद में प्रदर्शित किये हुए नीचे के विचारोंसे होगाः—

" It cripples his professional life by increasing distrust, treachery and jealousy, hampering a free use of others ' abilities, and his social life by increasing exclusiveness, restricting the opportunities of social intercourse, and preventing that intellectual development on which the prosperity of any class most depends,............

It robs us of our humanity by insisting on the degradation of some of our fellowmen, who are

separated from us by no more than the accident of birth. It prevents the noble and charitable impulses which have done so much for improvement and mutual benefit of European Society."

अर्थात्, जातिकी संस्थासे पेशोंके व्यावहारिक जीवनमें अविश्वास, दगाबाजी और ईर्ष्या बढ़ जाते हैं और वह जीवन जड़ होजाता है। दूसरोंकी योग्यताका स्वतंत्र उपयोग ठीक तौर पर नहीं हो सकता है, और छूत अछूतकी संकुचित वृत्तिसे सामाजिक जीवन की प्रगति रुक जाती है। सामाजिक संबंधोंके प्रसंगोंका निग्रह होता है, और जिस मानसिक विकास पर समाजकी सुख संपत्तिका आधार है उसमें रुकावट हो जाती है...... केवल जन्मकी आकस्मिक घटनाके कारण जो हमसे जुदा हुए हैं, उनमें के कई अधम प्राणी हैं, इस विचार पर भार रखकर, जाति हमारा मनुष्यत्व छीन लेती है। यूरोपीय समाजके सुधार और लोगोंके परस्पर हित के लिये जो उम्दा और उदार भाव कारणभूत हुए हैं, उनका जातिसंस्था अस्तित्वही नहीं होने देती।"

(२) **स्त्रीकी ओर सम्मान भाव**—स्त्रियोंके समान अधिकार की, स्त्रीशिक्षाकी, स्त्रियोंकी, उन्नति की और उनके लिये सभाओंकी बातें भी पाश्चिमके विचारों के परिणामसे ही होने लगी हैं। स्त्रियोंका पद प्राचीन हिंदुस्तानमें कितनाही उच्चथा, परंतु वर्तमान समयमें हिंदुस्थानमें वह वैसा नहीं रहा है। पाश्चात्य साहित्यके वाचनसे, पश्चिमके लोगोंके समागमसे और पश्चिमकी

सांसारिक रंगभूमिपर प्रदर्शित होने वाले नाटकों के ज्ञानसे, समाजमें स्त्रीके उचित पद और अधिकारके विषयमें सबल क्षोभ उत्पन्न हुआ है। स्त्री कोई अधम प्राणी नहीं है, न वह केवल पुरुषके आरामके साधनरूप वस्तु है; परंतु वह पुरुषके समान अमूल्य अधिकार रखने वाली मानव सृष्टि है; और मनुष्यत्व के जो जो अधिकार पुरुष भोगता है उनको स्त्रीकोभी भोगने देना यह सामाजिक न्यायबुद्धि है। कहनेका मतलब यह नहीं है कि स्त्रीका कर्तव्य क्षेत्र पुरुषके कर्तव्य क्षेत्रसे ऐक्य रखता है; परंतु उसका जो कर्तव्यक्षेत्र हो उसमें उसके आत्माकी उन्नतिके लिये, उचित शिक्षा, उचित सुखसामग्री और उचित सत्कारका प्रबंधकरना समाजके लिये न्याययुक्त है, यह विचार पश्चिमके समागमका परिणाम है; और इसी परिणाम के बल पर स्त्रियोंकी उच्च शिक्षा, उनके सामाजिक सुधार, और उनके और विशेष करके विधवाओंके आश्रम—ये सर्व सुधारके विषय हो गये हैं।

इस विषयमें श्रीमान् महाराजा गायकवाड़ का उदात्त आदर्श उनके उपर्युक्त भाषणमें निम्नरीत्या प्रदर्शित हुआ है:—

"That at which we are aiming is the restoration in which our Indian womanhood can once again produce types as noble and as great as those which glorify our national history. They need not be the same conditions which existed then. Times have

changed and the world is very different; but our aim, our ideal is the same, and we seek to make it true."

" हमारा आदर्श, हमारे प्रजाकीय इतिहास को शोभा देनेवाले उच्च, और यशस्वी स्त्रीत्वके नमूने उत्पन्न कर सके ऐसी परिस्थिति पुनः स्थापित करनेका है। इस परिस्थितिके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसकी प्रत्येक बात पहलेके जैसी ही हो। समयका परिवर्तन हो गया है, और दुनियाकी हालत बदल गई है; तथापि हमारा साधन, हमारा आदर्श तो वही है, और उसको व्यवहारमें लानेके लिये हम प्रयत्न करते है।"

(३) **अन्त्यजोद्धारः**—ऐसाही एक और विषय अंत्यज और पतित वर्गोंकी उन्नतिका है। इस संबंधमें श्रीमान् महाराजा साहेब गायकवाड़की भावना इन शब्दोंसे स्पष्ट होती हैं:—

" If we really believed in the One Spirit in all, we would not maltreat His manifestations, we would realise that we despised and hated Him in despising and hating our fellows."

" यदि हम यह मानते हैं कि ईश्वर सर्व में समानरूप से व्यापक है, तो उसके आविर्भावरूप प्राणियोंकी ओर अनुचित बर्ताव न करें। हम यही समझें कि उनको धिक्कार और घृणा की दृष्टिसे देखने में हम ईश्वर के लिए धिक्कार और घृणा का भाव प्रकट करते हैं। "

प्राचीन आचार और उससे संबंध रखनेवाली नीतिके अनुसार अन्त्यज लोग हिन्दूसमाजके बाहरकी व्यक्ति माने जाते हैं। पाश्चात्य नीतिका मनुष्य मात्रकी समानता का विचार हिन्दुओंका एक वर्ग इस प्रश्नको लागु करता है, और दूसरा वर्ग उसका विरोध करता है। इस प्रकार यह भी क्षोभका प्रश्न हो रहा है; और इस क्षोभका निवारण भी व्यक्तिस्वातंत्र्यको उत्तेजित करनेवाला वर्तमान युग व्यक्ति स्वातंत्र्यकी दिशामें ही करेगा, ऐसा बलवत्तर सामयिक प्रवृत्ति से मालूम होता है।

(४) **परोपकार और दानकी संस्थाएं**—उपकारके कृत्यमें अबतक अपने पडोसी का और अधिक विस्तार होता हो तो अपने गांवके, अपने धर्मको या देशके लोगोंका उपकार करनेकी वृत्तिका समावेश होता था। पश्चिम के साथ के संबंधसे और पश्चिम के "अधिक लोगों के अधिक सुख" विषयक उपयोगिता वादकी चर्चा के ज्ञान से वृद्धिगत हुई उदार भावनाओं के प्रभाव से परोपकार अधिक विस्तृत क्षेत्रमें और अधिक सहिष्णुतासे किया जाना इष्ट माना जाने लगा है। किसी देशमें अकाल हो, उस समय दूसरे देश के लोग उसको सहायता करें या एक देशके लोग दूसरे देशके लोगों के युद्ध के परिणाम में होते हुए दुःखोंको कम करनेके लिये उत्सुक हों, या एक धर्म के लोग दूसरे धर्मकी संस्थाओंकी मदद करें, ऐसी विशाल उपकार वृत्ति जैसे बहुत समय पहले पश्चिममें न थी, वैसे हिन्दुस्तानमें भी पश्चिमके सहवास

के पहले उसका अस्तित्व न था। यह उदार समभाव विशेष और विशेष विकसित होने की ओर आधुनिक नैतिक प्रगतिकी शुभ प्रवृत्ति है।

दानके विषयमें भी हिन्दूसमाजकी नैतिक दृष्टि " अधिक लोगोंके अधिक सुख " को सिद्ध करने वाली बातोंको उत्तेजन देनेकी ओर प्रवृत्त होने लगी है। प्राचीन हिन्दूनीतिके अनुसार दानका उत्तम पात्र ब्राह्मण, उत्तम स्थान तीर्थक्षेत्र, और उत्तम कार्य धर्मशाला मंदिर या धार्मिक संस्थाका कार्य माने जाते थे, और अबभी हिन्दुओंके कतिपय वर्गोंमें यही प्रकार प्रचलित हैं। पश्चिमके विचारोंने इस प्रकारके दानों की उत्कृष्टताके संबंधमें क्षोभ उत्पन्न किया है, और इन दानोंकी अपेक्षा, शिक्षाप्रचारके लिये दिया हुआ, बीमारोंके आरामकी सामग्रीके लिये दिया हुआ या गरीबके दुःख कम करनेके लिये गरीबोंको दिया हुआ, इत्यादि ऐहिक सुख साधनके लिये दिया हुआ दान, जिससे अधिक लोगोंको अधिक सुखकी सिद्धि हो, अधिक उत्कृष्ट गिना जाता है; इस प्रकार दानके विषयमें नैतिक उन्नति होने लगी है, और सामयिक प्रगतिको देखने से सकारण आशा की जासकती है कि यह उन्नति उस दिशामें विना विशेष क्षोभके प्रचलित रहेगी।

(५) **गरीब और धनवान्के संबंध**—जिस प्रकार उच्च और नीच जातिके आधार पर उच्चनीच का भेद समर्थित होता है, उसी प्रकार धनवान् और गरीब लोगोंकी आर्थिक स्थितिके

आधार परभी होता है। जैसे एक भेद इस जन्मके कारण होता है वैसे दूसरा गत जन्मके कर्मोंके अनुसार होता है, इस लिये इस विषयमें किसीप्रकार का अन्याय होता हो, ऐसा नहीं माना जाता था। गरीबों और धनवानों की स्थितिमें जितना अंतर वर्तमान समय में देखा जाता है उतना पहलेके समयमें नथा क्योंकि आजकल यंत्रकला के प्रभाव से धनिक लोग बहुत धनवान् हो सकते हैं। पश्चिममें कई स्थलोंमें तो यह अन्तर इतना बढ़ गया है कि अपरिमित धन और अधमसे अधम निर्धनता के दुःखद विरोधों के परिणामरूप (Socialism) अर्थात खानगी मालिकी के धन, माल, और मिल्कियत का समाज सामान्य उपयोग करे यही उचित है, ऐसा समाजवाद दिन प्रतिदिन अधिकाधिक चर्चा का विषय होता जाता है, और इसका बहुत विशेष नहीं तो इतना परिणाम तो अवश्य होता है, कि लोग यह मानने लगते हैं कि गरीब और धनवान के अंतरका उद्भव किसी विशेष योग्यतासे नहीं होता है, परंतु संयोगों के बलपर धनिक लोग न्याययुक्त हो उससे अधिकाधिक बढा सकते हैं। इस स्थितिकी अनीतिको दूर करने के लिये पश्चिम में जिस समाजवाद का उद्भव हुआ है, उसके अनुसार, पूंजी रखने वाले धनिक लोगोंको चाहिये कि वे उनके श्रमजीवियों और उन श्रमजीवियोंके बच्चोंके सुखसाधन तथा उनकी शिक्षा और उन्नति के लिये प्रबंध करें ऐसा माना जाने लगा है। अर्थात गरीब श्रमजीवियोंसे काम लेने

वाले सेठों के उन गरीब लोगोंकी ओर कुछ कर्तव्य हैं। उनकी उन्नतिके लिये सुखसाधन के लिये और शिक्षाके लिये सेठोंको कुछ न कुछ करना चाहिये, इस प्रकार का समाजमत अधिक प्रबल होता जाता है। यद्यपि पश्चिम कीसी दुःखद स्थितिका उद्भव हिन्दुस्तानमें अबतक नहीं हुआ है, परंतु उसका यहांभी होना अब असंभव नहीं है। यहांभी मज़दूरोंकी महनतके घंटोंके, उनकी शारीरिक योग्यताके, और उनकी उम्रके संबंधमें सरकारने नियम बनाये हैं। परंतु उन नियमोंके अतिरिक्त समाज मतका दबाव बहुत कम है। परंतु ज्यों ज्यों उसकी आवश्यकता प्रतीत होगी, त्यों त्यों उस मतका विकास होगा, यह बात बहुत संभव है; और साथही इसके सामाजिक न्याय और समभावकी वृत्तिका अधिक उद्भव और प्रचार होगा।

कौटुम्बिक क्षोभः—नैतिक दृष्टिसे कुटुम्ब व्यवस्थाका आधार उसके प्रत्येक व्यक्तिका सामान्य श्रेय साधनेकी वृत्तिपर है। कुटुम्ब भावनाका बीज ही उस वृत्तिमें है। सामान्य श्रेयकी अपेक्षा व्यक्ति स्वातंत्र्य पर वर्तमान सुधार अधिक भार देता है। उसके परिणाममें नीचे दी हुई बातोंमें किस प्रकारका क्षोभ होता है उसका थोड़ासा निरूपण करें:—

(१) अविभक्त कुटुम्बकी भावना। (२) कुटुम्बमें सत्ता (अधिकार)। (३) विवाह संबंधी कुछ बातें।

(१)अविभक्त कुटुम्बकी प्राचीन भावनामें कुटुम्ब के सामान्य श्रेयकी ओर ही ध्यान दिया जाताथा। अविभक्त कुटुंब स्वार्थ त्याग समभाव और विनयशील वृत्तिओंका विकास करने के लिये पाठशाला रूपथा। पश्चिमके रिवाज और तरहके हैं, वहां स्वतंत्रताकी हवाके प्रभावसे विवाह होते ही पुत्र कुटुम्बसे अलग हो जाता है, और वहांके लोगोंको अविभक्त कुटुंबका ख्याल तक नहीं हो सकता है मनुष्यमात्रको स्वतंत्रता और खास करके स्वार्थपोषक स्वतंत्रका मोह बहुत रुचिकर होता है इस नियमानुसार पश्चिमका कौटुम्बिकजीवन पूर्वकोभी अनुकरणीय मालूम हुआ है । पहलेके समयमें पेशा रोजगार वगेरे अकसर बापदादाके ही किये जाते थे। वर्तमान शिक्षाकी संस्थाओंके कारण वह स्थिति बदल गई है। परिणाम यह हुआ है कि कुटुम्बके भिन्न भिन्न व्यक्तिओंकी भिन्न भिन्न आर्थिक स्थिति होती है, और कईवार वे स्थित्यन्तर बहुत बडे होते हैं; व्यक्तिस्वातंत्र्यकी भावनाके पर्देके भीतर स्वार्थ और लाभ उत्पन्न होते हैं,और अविभक्त उपभोग विभक्त हो जाता है।अविभक्त कुटुम्बमें कम शक्तिवालोंका, अनेक भाईबहिनोंका, और निराधार विधवाओंका जो पालन होता था, वह विभक्तताकी दशामें बंद हो जाता है । अलबत्ता कुछ अंशमें अविभक्त कुटुंब व्यवस्था, आलस्यकी पोषक होती है, और अविभक्त कुटुम्ब हमेशा सुखी भी नहीं होता है। इस प्रश्नकी चर्चा करनेका यह स्थान नहीं है। नैतिक दृष्टिसे इतना कह सकते हैं, कि एककी रचना स्नेह,

सद्भाव सामान्य श्रेय, विनीतता और समष्टिभाव के आधारपर है, और उन्हींभावोंकी वर्धकभी है, दूसरेकी रचना स्वतंत्रता और व्यक्तिसुखकी इच्छाके आधारपर है, और उन्हींकी वर्धकभी है। यद्यपि पूर्व और पश्चिम की भावनाओंकी इस संबंधमें परस्पर प्रबल टक्करें लग रही हैं, तथापि प्रवृति व्यक्तिस्वातंत्र्यकी दिशामें होनेके कारण अविभक्त कुटुंबोंकी संख्या अधिकाधिक कम होती जाती है, और आजकल चलती हुई हवासे हम सहज जान सकते हैं कि वह औरभी कम होगी।

(२) कुटुम्बमें सत्ता-(अधिकार):-प्राचीन नीतिके अनुसार कुटुम्ब में सबसे बडे पुरुष या बडी स्त्रीको सत्ताका साम्राज्य होना चाहिये। इसका आधार अवस्था और पदवी के लिये मानके भावपर था। नवीन समागम और शिक्षाकी एकाएक वृद्धि होने के कारण बहुतसे कुटुम्बों में सत्ताके उपयोग और पात्रता के संबंध में मतभेद उत्पन्न हुआ है। शास्त्रोंका या जातिसे रीतिरिवाजोंक उल्लंघन करना; अथवा बड़ोंकी इच्छा के विरुद्ध वर्तन करना, प्रचलित और प्राचीन हिन्दुनीति के अनुसार अनीतिमान वर्ताव समझा जाता है। इसमें भी विचारस्वातंत्र्य और व्यक्तिस्वातंत्र्य विषयक पश्चिमकी नीतिके पवनने पूर्वके पर्दों में छिद्र कर दिया है। सत्ता के संबंधमें रूढ विचार डावांडोल होगये हैं, और अवस्था व अनुभव या दूर दर्शिता को मान देने में नीति रही है, ऐसे प्रश्नोंकी चर्चा होने लगी है। सत्ताके प्रश्नमें अनेक प्रकार

आन्दोलन होते हैं परंतु समयकी प्रवृत्ति इस विषय में भी पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार होती जान पडती है।

पतिपत्नी के संबंधमें भी सत्ताका प्रश्न उपस्थित होता है। पति देवतुल्य है और पत्नी सर्वदा सर्वथा उसके आधीन है इस प्राचीन भावना के अनुसार सत्ता के संपूर्ण उपभोग का अधिकारी पति होता है। स्त्रीशिक्षा और समान हककी भावना के प्रभाव से इस में भी क्षोभ उत्पन्न हुआ है; और इस सत्ताका उपयोग अन्याय्य है, इस विचारसे पुरानी भावनाको प्रबल आघात हुआ है। पत्नी गृहकी शोभा है, वह प्रसन्न हो तो देवता प्रसन्न होते हैं, इन सब बातोंका स्वीकार होने पर भी एक मत के अनुसार पत्नीका कर्तव्य घरके अंदर और रसोई घरकी चार दीवारोंके भीतर समाप्त हो जाता है; दूसरे मतके अनुसार पत्नी का पद रखनेवाली स्त्रीका भी कर्तव्य क्षेत्र ऐसा संकुचित नहीं है; बल्कि उसके भी सामाजिक और राजकीय कर्तव्य हो सकते हैं, ऐसा माना जाता है। प्रथम मत हिंदुस्थानके लोगोंमें बडे भागका है, और दूसरा छोटे भागका। दूसरे मतका परिणाम यह होता कि सर्व रीतिसे स्त्री, पुरुषके समान हो जाती है यद्यपि जिस दिशामें इस समानताकी भावनाका पश्चिममें स्वीकार हुआ है; तथापि वह भावना साहित्य और विचारोंमें सूक्ष्मतासे फैलती जाती है और हिन्दू कौटुम्बिक जीवनमें क्षोभ बढता जाता है।

(३) **विवाह संबंधी कुछ बातें**:--एकसे अधिक पत्नी करनेमें स्त्रीके स्त्रीत्वका अपमान होता है और इस लिये वह अनीति अर्थात् अन्याय है ऐसा मन्तव्य, जातिके बंधनोंके कारण अयोग्य विवाह संबंध होजानेमें समाजकी ओरसे व्यक्तिको अन्याय होता है ऐसा मन्तव्य, ये और ऐसी विवाह संबधी छोटी और बडी बातोंमें पश्चिमकी नीति पूर्वकी प्रचलित नीतिकी अपेक्षा उच्चतर और बलवत्तर है। विवाहकी प्राचीन धार्मिक भावनामें किसी प्रकारका क्षोभ न होते हुए, जिन जिन रिवाजोंमें स्त्रीकी नैतिक अवनति प्रादुर्भूत होती हो उन रिवाजोंमें नैतिक दृष्टिसे सुधार अधिक संख्यामें होते जाते हैं।

सब बातें देखते हुए संक्षेपसे इतना कह सकते हैं कि आधुनिक सुधारों के कारण एवं पश्चिमसे समागमहोनेके कारण हिंदू नैतिक जीवनमें जो क्षोभ उत्पन्न हुआ है वह जीवनको सबल बनाने जीवनको प्रवृत्तिशील बनाने, जीवनमें समानता फैलाने और जीवनके उत्साहोंमें अधिकाधिक उपयोगिता लानेकी दिशामें है। यदि हम यह आशा रक्खें कि वह क्षोभ दिन प्रतिदिन बढेगा और समयकी गतिके साथ पुराने आचार विचारभी बदलेंगे, तो वह यथार्थ ही है। उस आशा साफल्यमें भावी हिन्दूसमाजकी उन्नतिकी भी आशा है।
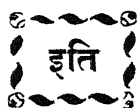
श्री सयाजी साहित्यमाला

सूचीपत्र

(१) **तुलनात्मक धर्म्म विचार** अनुवादक राज्यरत्न व्याख्यानवाचस्पति आत्मारामजी इन्स्पेक्टर बड़ौदा मू. १) अंग्रेजी तथा युरोप की भिन्न भिन्न भाषाओं में विविध देशों की भाषा, धर्म्म भावना, संसार घटना, पुराण कथा इत्यादि के अनेक ग्रन्थ तुलानात्मक परीक्षा करने वाले हैं परन्तु खेद है कि हमारी भाषाओं में ऐसी तुलनात्मक पुस्तकों का एकदम अभाव ही है, अतः हमारा इस ओर प्रयत्न करना नवीन साहित्य तय्यार करना है, तथा यह प्रथम प्रयास ही है। इस तुलनात्मक ढंग पर लिखी गई पुस्तक में यज्ञ, जादु, पितृपूजा, भावी जीवन, द्वंद्ववाद, बौद्ध धर्म्म, एकेश्वरवाद, पर विवेचन किया गया है तथा अनुवादक महोदयने अपनी भूमिका में विद्वत्ता पूर्ण विचार प्रगट किया है जिससे कि प्रत्येक मनुष्य को विदेशीय विचारों के साथ साथ अपने धर्म्म विचार क्या हैं यह सहज में मालूम हो जाता है। सुन्दर सजिल्द पुस्तक का मूल्य १)

आर्यमित्र " **तुलनात्मक धर्म्म विचार** हर्ष की बात है कि इस समय हिन्दीसाहित्य में भी तुलनात्मक पुस्तकें निकलने लगी हैं। हम अनुवादक के इस प्रयत्नको सर्वथा सराहनीय समझते हैं। इस पुस्तक में यज्ञ जादु, पितृपूजा भावी जीवन, द्वंद्ववाद, बौद्धधर्म, तथा एकेश्वरवाद, पर विवेचन किया गया है। इस पुस्तकसे प्रत्येक मनुष्यको विदेशीय विचारों के साथ २ अपने धर्म विचारभी सहज में ही मालूम हो जाते हैं। पुस्तक सब दृष्टियोंसे अच्छी है, जिल्द बंधी हुईहै तथा छापाभी अच्छा है इससे पुस्तक की उपादेयता और बढ जाती है "

माडर्नरिव्यु " The cause of useful literature in Hindi isbeing furthered by the Gaekwar of Baroda who has

inspired a zeal for the uplift of vernacular literature. Both the translation and get up of the book under notice are praiseworthy. This book is a valuable addition to Hindi religious literature."

माधुरी " विषयनामसेही स्पष्ट है। यह कंपेरेटिव रिलीजन पुस्तक का बढ़िया अनुवाद है। इसमें प्रायः संसार के सभी धर्मों के विचारों की सक्षिप्त रूपसे तुलनाकी गई है। पुस्तक उपादेय और पढ़ने योग्य है। आशाहै इसका भी यथोचित आदर होगा। कागज उत्तम चिकना छपाई सफाई और जिल्द बढ़िया। "

२ अवतार रहस्य अर्थात् भारतीय तथा युरोपीय पुराण कथाओं की तुलनात्मक समीक्षा मू॰ ॥।) यह एक दूसरी गवेषणात्मक अपने ढंग की अनुठी पुस्तक है अनुवादक श्री शान्तिप्रिय आत्मारामजी इसमें निम्न लिखित विषय हैं। भाषाशास्त्रकी उत्पति, आर्यकुल और उसका आदि निवासस्थान कूट प्रश्न और उसका समाधान, युग लक्षण तथा तज्जनित अनुमान, हिंदु तथा पारसियों के पूर्वजों का सपिण्डत्व, वस्तु विभाग, युरोपकी पूर्वकालीन तथा वेदकालीन कथायें विश्वोत्पात्ति, द्यौष्पितर, वरुण, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, सोम, उषस्, यम, वायु, आश्विनौ, हिंदुओं के पुराण, पुराणोक्त विश्वोत्पत्ति, देवताओं की उत्पत्ति, ब्रह्मा, वरुण इन्द्र, अग्नि, सूर्य, विष्णु, मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, रामायण तथा इलियड, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, चन्द्र, उषा, यम, वायु, अश्विनौ प्रकीर्ण उपसंहार विषयान्वित सुंदर छपी पुस्तक का मूल्य ॥।=) बिना जिल्द ॥।)

Modern Review "The work is interesting and the introduction by the translator illuminating."

३ **समुद्रगुप्त** भारतीय सम्राट समुद्रगुप्त के इतिहास का वर्णन मू० ॥=) अनुवादक श्री. रविशंकर छाया बी. ए.।

माधुरी " कागज चिकना और छपाई सफाई उत्तम। इस पुस्तकका विषय ऐतिहासिक है। इसमें आर्योंके प्राचीन देश, भारतके प्राचीन

इतिहासके साधन, आरंभके वंश आदि विषयोंका वर्णन करके गुप्त वंश के अंतर्गत महाराज समुद्रगुप्त से संबंध रखनेवाली प्रायः सभी बातोंका समावेश बडी योग्यतासे किया गया है। तीन चित्रभी हैं। जिनसे पुस्तककी उपादेयता बढ गई है। यह सयाजी साहित्यमालाकी हिंदी में पांचवीं पुस्तक है। हर्ष की बात है यह पुस्तकमाला ऐसीही उत्तमोत्तम पुस्तकें निकाल कर हिंदीका बडा उपकार कर रही है। हिंदी प्रेमियों और पुस्तकालयोंको इस उपादेय पुस्तक की एक एक प्रतिअवश्य मंगाकर रखनी चाहिए।

Modern Review

"This is another publication of the above mentioned series and contains the description of the times of the Gupta emperor, besides a detailed historical perspective. The several appendices which are reproductions and illustrations of inscriptions, coins & pillars etc are useful in forming an idea of the times described.

४ कोष की कथा ले० श्री शान्तिप्रिय आत्मारामजी, सचित्र वैज्ञानिक पुस्तक cell का पूर्ण परिचय देती है जीव कोष क्या क्या कार्य्य शुरु से अन्ततक करता है यह इस पुस्तक में भली प्रकार दर्शाया है। आज तक हिन्दी भाषा में इस प्रकार की कोई भी पुस्तक न थी यह पहिली ही पुस्तक है। पुस्तक बडी उपयोगी है मूल्य ॥) माडर्न रिव्यूकी सम्मति इस प्रकार है।

Kosh ki Katha " The munificence and far sightedness of Maharaja Sayajirao Gekwar of Baroda have instituted a very most useful and fascinating work in the shape of a series of juvenile booklets called the Sayaji Bal gnana Mala. The booklet under notice is the story of the cell told most

plainly. The illustrations will add to the utility of the work, and the glossary of technical terms is most helpful. The get up gives credit to the publishers."

श्रीयुत पुरोहित हरिनारायणजी शर्म्मा बी.ए. विद्याभूषण जयपुर, "**कोषकी कथा**" की पढाईसे मेरा विद्याकोष बढा है। मेरा खयाल है कि इस सम्बन्ध में पुस्तक रूपेण कोई चेष्टा नहीं हुई ।

आर्यमित्र " **कोषकीकथा** यह एक सुयोग्य लेखक की पुस्तक का अनुवाद है इस पुस्तकमें यह दर्शानेका प्रयत्न किया गया है कि cell और कोष एक ही बात है। प्राणिशास्त्रके विषय पर हिन्दी भाषा में ऐसी सरल पुस्तकें निकलना अच्छी बात है। यह पुस्तक प्राणशास्त्र के छात्रों के लिए बडी सहायक होगी। युरोप के विद्वानों के विचारों का समावेश भी इसमें किया गया है। छपाई तथा कागज अच्छा है मू०॥)

ज्योति " **कोषकी कथा**—प्राणविद्या में सेल cell शब्द कईवार प्रयोग होता है। आजकल के वैज्ञानिकों के मत में किसी भी जीवित वस्तु में उसका सबसे सूक्ष्म भाग सेल अर्थात् कोष है। इन्हीं अगनित कोषों के मेलसे जीव जन्तु वनस्पति इत्यादि बनते हैं। इस पुस्तक में इसी कोषकी कथा दी गई है। कोष क्या है यह किस प्रकार जीवित शरीर में अपनी क्रिया करता है और किस प्रकार शरीर की भिन्न अवस्थाओंपर अपना प्रभाव डालता है और उनसे प्रभावित होता है यह बातें मनोरंजक भाषामें वर्णन की गई हैं पुस्तक का विषय वैज्ञानिक है। यह हिन्दी भाषाके सौभाग्य की बात है कि अब इस में विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों का निकलना भी आरंभ हो गया है; इस ओर ध्यान देने के लिए प्रकाशक हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।"

सौरभ " कोषोंके क्रमिक विकास का नामही संसार है इस पुस्तकमें इस कोषकी कथा काही सरल भाषामें मनोरञ्जक वर्णन है। पुस्तक उपादेय है, एक बार अवश्य पढें। ,,

५. **श्रीहर्ष** अनुवादक श्री आनन्दजी प्रियजी बी ए एल. एल. बी. हिंदी भाषामें (सं.४–५) यह दोनों पुस्तकें बडोदा और इंदोर तथा मध्य प्रदेश और बरार के विद्याधिकारियों के द्वारा पाठशालाओं में इनाम तथा पुस्तकालयों के लिए मंजूर की गई हैं। इस में निम्निलिखित विषय हैं हर्ष के पूर्वज, पुष्प भूति, प्रभाकर वर्धन, मौखरिवंश हर्ष का जन्मकाल, प्रभाकर की मृत्यु ग्रहवर्मा, राज्य वर्धन की मृत्यु, हर्ष की दिग्विजय निमित्त कूच राज्यश्री की खोज हर्ष का राज्याभिषेक, उस के दया धर्म्म के कार्य तथा मृत्यु हर्ष के समय के राजे आदि साहित्याकार राजा हर्ष कवि रूप में हर्ष के हस्ताक्षर शिलालेख इत्यादि मू. ॥)

Modern Review

" **Sri Harsha** This is another publication of the above named series. The history of the Emperor Harshavardhana is presented in this nicely got up little book. The autograph signature of the emperor ond the two appendices which give Madhuvana and the Bansakhera inscriptions have enhanced the charm and utility of the work. Thus the book will be found useful not only by a little advanced students but also the general public."

आर्यमित्र " **श्री हर्ष** इस छोटी सी पुस्तक के पढने से मालूम होजाता हैं कि भारत के प्राचीन इतिहासकी सामग्री किस प्रकार संस्कृत साहित्यमें भरी पडी है। इस पुस्तक के पढ़नेसे बहुत सी ऐतिहासिक बातें मालूम होजाती हैं। पुस्तक बालकों के लिए लिखी गई है पर पर इस से सभी लाभ उठा सकते हैं। कागज तथा छपाई अच्छी है। मू. ॥)"

श्रीयुत पुरोहित हरिनारायणजी शर्मा बी. ए. विद्याभूषण जयपुरसे लिखते हैं:–" **श्री हर्ष** को पढ़ कर अतीव हर्ष हुआ। यह पुरातत्वमें बड़े काम की पोथी हुई है। इस प्रकार की किताबों से हमारी जरूरतें पूरी होंगी।"

ज्योति श्री हर्ष " हर्ष वर्धन भारतका अन्तिम आर्य सम्राट हुआ है आदित्य जीवन, प्रखर प्रताप तथा समृद्धिशाली राज्यका वर्णन कवि बाणन अपने श्रीहर्ष नामक काव्य में बड़ी ओजस्विनी और मधुर भाषा में किया है यह पुस्तक बाणकी संकृत पुस्तक और चीनी यात्री हुयेनत्संग के विवरण तथा इसी प्रकार इधर उधर फैली हुई अन्य सामग्री के आधार पर लिखी गई है। पुस्तक के पाठसे एक बार हर्ष के समय का चित्र आंखों के सामने खिंच जाता है। पुस्तक का विषय ऐतिहासिक है और अनुसन्धान पूर्वक लिखी गई है। इसके पाठसे हिन्दी भाषा जाननेवालों को उस समय के इतिहास का बड़ा अच्छा ज्ञान हो सकता है।

हिन्दी लेकव्स " इस पुस्तक में महाराज और महा कवि श्री हर्ष का जीवन वृत्तान्त है और ऐतिहासिक दृष्टिसे लिखे जाने के कारण पुस्तक का महत्व बहुत बढ गया है। इससे उस समय के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडता है और लेखकके अनुकरणीय अध्ययन का पता चलता है इतिहास प्रेमियों के लिए पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। विषयक्रम व्यवस्थित और लेख शैली उत्कृष्ट है। हम लेखक के इस प्रयास का हृदयसे सराहना करते हैं।"

माधुरी " **श्रीहर्ष** कागज उत्तम छपाई सफाई मनोहर, बाणभट्टकी लिखी श्रीहर्षचरित पुस्तक और हिएनसांग तथा अन्य ऐतिहासिकों की एतत् संबंधी गवेषणाओं के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। इसमें निपुणकवि श्री हर्ष का वृत्तांत सविस्तर सप्रमाण वर्णित है। पुस्तक बालकों के लिए लिखी जाने पर भी बहुतसी बडोंके कामकी हैं"

सौरभ " पुस्तक ऐतिहसिक तत्वोंसे पूर्ण और सुवाच्य है इसकी वर्णन शैली उत्तम और सारगर्भित है। इसमें महाराज श्री हर्षका जीवन वृतान्त है जो कि प्रत्येक भारतवासी के पढ़ने योग्य है। पुस्तक मुख्यतः बालकों के लिए लिखी गई है परन्तु इससे अनेक युवा और वृद्ध भी लाभ उठा सकते हैं"

श्री सयाजी साहित्यमाला.

प्रकाशित पुस्तकें.	कीमत.
१. विज्ञान-गुच्छः—	
२. भूपृष्ठविचार (सचित्र).	०-१०-०
११. देहधर्मविद्यानां तत्त्वो.	१-०-०
१२. विज्ञानप्रवेशिका.	०-११-०
१३. जिंदगीनो विमो.	०-११-०
१७. उद्भिज्जविद्यानुं रेखादर्शन (सचित्र).	१-०-०
१८. करोळीआ (सचित्र).	०-११-०
२२. प्राणीविद्यानुं रेखादर्शन (सचित्र).	१-०-०
२५. मनुष्यविद्यानां तत्त्वो.	१-०-०
३५. जीवविद्या (सचित्र).	१-०-०
३८. तुलनात्मक भाषाशास्त्र.	१-४-०
४६. राजनीतिनो संक्षिप्त इतिहास.	१-४-०
४७. समाजशास्त्रप्रवेशिका.	०-१४-०
४८. बाळउछेर.	१-८-०
५०. बाळस्वभाव अने बाळउछेर.	१-८-०
५१. शरीरयंत्रनुं रेखादर्शन (सचित्र).	१-४-०
६३. विद्युत् (सचित्र)	१-४-०
६७. प्राणीसृष्टि (सचित्र)	१-८-०
७०. रसायनप्रवेशिका. (सचित्र).	१-४-०
७५. वडोदरानुं अर्थशास्त्र.	०-१२-०
८४. सनईवादन पाठमाला पु. ३. (मराठी).	१-२-०
८५. सदर सदर पु. ४. (मराठी).	१-१२-०
८६. अवताररहस्य (हिन्दी)	०-१४-०

२. चरित्र-गुच्छः—

८. प्रेमानंद (सचित्र).	१-०-०
१४. दयाराम.	०-११-०
२०. मीरांबाई.	०-१२-०
३०. गिरधर.	०-१४-०
३३. भालण (सचित्र).	१-०-०
४०. तुकाराम (सचित्र).	०-१४-०
४१. महाराजा शिवाजी (मराठी) (सचित्र).	१-६-०
४५. विष्णुदास.	१-०-०
४६. वीर शिवाजी (सचित्र)	१-०-०
५३. मणिशंकर कीकाणी.	१-६-०
६२. दलपतराम.	१-२-०
७२. समुद्रगुप्त. (सचित्र)	०-१३-०
७४. मीरांबाई. (सचित्र) (मराठी)	०-१५-०
७७. चक्रवर्ती अशोक	०-१४-०
७८. समुद्रगुप्त (हिन्दी) (सचित्र)	०-१२-०

३. इतिहास-गुच्छः—

१. संस्कृत वाङ्मयाचा इतिहास. (मराठी)	२-८-०
९. जगत्नो वार्तारूप इतिहास. भाग १ लो.	३-८-०
१९. ब्रिटिश राष्ट्रीय संस्थाओ.	०-१३-०
२४. पॅलेस्टाइननी संस्कृति.	०-१२-०
२६. जगत्नो वार्तारूप इतिहास भाग २ जो	३-०-०
३१. पार्लामेन्ट.	१-४-०
३४. इतिहासनुं प्रभात.	१-४-०
४३. नवीन जपाननी उत्क्रांति.	१-०-०

५५. चीननी संस्कृति.	१–६–०
६५. हिंदुस्थानचा अर्वाचीन इतिहास–मराठी रियासत (मध्यविभाग) भा. १. (मराठी)	२-१२-०
६६. सदर भाग २. ,,	२-१२-०
६८. सदर भाग ३ ,,	२–४–०
६९. हिंदुस्ताननी संस्कृति.	१-१२-०
९०. मराठ्यांच्या प्रसिद्ध लढाया (मराठी)	३–०–०

४ वार्ता–गुच्छः—

३. आपणा लघुबन्धु अंग्रेज (अंग्रेज बालजीवन–बीजी आवृत्ति.)	१–०–०
४. अलकानो अद्भुत प्रवास (सचित्र–बीजी आवृत्ति)	१–४–०
१६. वीर पुरुषो.	०-१२–०

५. धर्म–गुच्छः—

६. हिन्दुस्तानना देवो (सचित्र)	४–०–०
२३. दीघनिकाय (भाग १ ला.) (मराठी)	१–८–०
३२. तुलनात्मक धर्मविचार.	०-१३-०
३६. धर्मनां मूळतत्त्वो.	०-१०-०
४२. विविध धर्मोनुं रेखादर्शन.	०-१२-०
४४. उत्तर युरोपनी पुराणकथा.	०-१४-०
८०. तुलनात्मक धर्मविचार (हिन्दी)	१–०–०

६. नीति–गुच्छः—

५. माबापने बे बोल (त्रीजी आवृत्ति).	०–६–०
७. नीतिशास्त्र.	०-१४-०
२७. नीतिविवेचन.	१–२–०
२९. कॉबेटनो उपदेश.	०-१५-०
३७. नैतिक जीवन तथा नैतिक उत्कर्ष.	०-१५-०

७६ नीतिविवेचन (हिन्दी)	१-७-०

७. शिक्षण-गुच्छः—

१०. बालोद्यानपद्धतीचें गृहशिक्षण (सचित्र) (मराठी)	०-१०-
२८. बालोद्यानपद्धतिनुं गृहशिक्षण (सचित्र)	०-१४-
५२. शाळा अने शिक्षणपद्धति.	०-१५-
८९. प्राचीन हिन्दमांनी केळवणी.	०-१३-०

८. प्रकीर्ण गुच्छः—

१५. सुधारणा आणि प्रगति. (द्वितीयावृत्ति, मराठी)	३-०-०
२१. शिस्त (मराठी)	१-०-०
३९. हिंदुस्तानचा लष्करी इतिहास व दोस्तराष्ट्रांच्या फौजा (मराठी)	२-८-०
५४. संस्कृति अने प्रगति	२-८-०
७३. जबाबदार राज्यपद्धति (मराठी)	०-१३-६
८६. नागरिकाचें धर्म (मराठी)	

श्री सयाजी बालज्ञानमाला.

प्रकाशित पुस्तक	कीमत.
१ गीरनारनुं गौरव (बीजी आवृत्ति) (सचित्र)	०-६-०
२ ऋतुना रंग (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
३ शरीरनो संचो (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
४ महाराणा प्रताप बीजी आवृत्ति) (सचित्र)	०-६-०
५ कोषनी कथा (बीजी आवृत्ति) (सचित्र)	०-६-०
६ पाटण-सिद्धपुरनो प्रवास (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
७ पावागढ (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
८ औरंगझेब (बीजी आवृत्ति) (सचित्र)	०-६-०
९ मधपूडो (बीजी आवृत्ति (सचित्र)	०-६-०
१० रणजीतसिंह (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
११. सुखी शरीर (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
१२. श्रीहर्ष (बीजी आवृत्ति)	०-६-०
१३. सूर्यकिरण (सचित्र)	०-६-०
१४. वातावरण	०-६-०
१५. ग्रहण (सचित्र)	०-६-०
१६. बालनेपोलीअन	०-६-०
१७. कोषकी कथा (सचित्र) (हिन्दी)	०-८-०
१८. लोहीनी लीला	०-६-०
१९. श्रीहर्ष (हिन्दी)	०-८-०
२०. सिकंदरनी स्वारी	०-६-०
२१. सुरत	०-६-०

२२. एशियानी ओळखाण भाग पहेलो	०—६—०
२६. भूस्तरनी कथा	०—६—०
२४ लॉर्ड विलियम बेन्टिन्क	०—६—०
२५ नाना फडनविस	०—६—०
२६ चंद्र	०—६—०
२७ वडोदरानो वैभव	०—६—०
२८ महादजी सिंधिया	०—६—०
२९ घरधोणी	०—६—०
३० चांचड	०—६—०
३१ पाचनक्रिया अने दूध	०—६—०
३२ एशियानी ओळखाण भाग बीजो	०—६—०
३३ गर्भनी कथा	०—६—०
३४ बाबर	०—६—०
३५ नाडीतंत्र	०—६—०
३६ बौद्ध गुफाओ	०—६—०
३७ महाबळेश्वर	०—६—०